सन्मति साहित्य रत्नमाला का २० वाँ रत्न

# उज्ज्वल-वाणी

## द्वितीय भाग

प्रवचनकार

महासती श्री उ

सम्पादक

रत्नकुमार जैन "रत्नेश"

'साहित्यरत्न' धर्म शास्त्री

# सम्पादकीय

महासती श्री उज्ज्वलकुमारी जी के प्रवचनों का यह तीसरा संग्रह देते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। पहला संग्रह 'उज्ज्वल-वाणी' के नाम से इसी संस्था की तरफ से निकल चुका है, जिसने सर्वत्र खूब प्रशंसा प्राप्त की है। जिस किसी ने भी इस संग्रह को देखा और खोल कर कुछ पढ़ा, वह इसे लेने का मोह संवरण न कर सका। मुझे यह भी कहने दीजिये कि समाज के एक चुस्त वर्ग में जो किसी के हिलाये हिलता न था, और सर्वत्र आज समाज पर जिसका वर्चस्व है, उसके हृदय में भी 'उज्ज्वलवाणी' ने अग्नि प्रज्ज्वलित की है। कूड़ा-करकट जब जमा हो जाता है और हटाये हटता नहीं, तो अग्नि का जलाना अनुचित नहीं है। इस दिशा में सतीजी का कार्य सदैव उल्लेखनीय रहेगा।

आज का जैन समाज अपनी परम्परागत रूढ़ियों में इस तरह फँस गया है कि उससे वह अपना विवेक भी खो बैठा है। सम्यक् दर्शन और समकित आज हवा में उड़ने वाली चीज हो गई है। बद किस्मत ही कहिये कि आज इस रूढ़ परम्परा से समाज को बचाने के लिये जिन्हें प्रयत्न करना चाहिये, वे भी आज उसी में फँस गये हैं। ऐसे विषम समय में किये गये महासती श्री उज्ज्वलकुमारी जी के ये क्रान्तिकारी प्रवचन समाज की आगामी पीढ़ी के लिये वरदान सिद्ध होंगे। जैन समाज के किसी भी व्यक्ति को, जो कि संकुचित भावनाओं से दूर हो जैनत्व को चमकाना

चाहेगा उसको अपने कंटकाकीर्ण मार्ग पर अग्रसर होने के लिये महासती के ये प्रवचन 'मशाल' का काम देंगे।

जैन समाज का हर एक व्यक्ति, चतुर्विध संघ का हर एक सदस्य आज इस प्रगतिशील युग में पीछे रह गया है, दूसरे शब्दों में कहें तो सोया पड़ा है। जो सजग है, वह भी अपनी सीमा बढ़ाना नहीं चाहता। जहाँ के तहाँ ही रहना चाहते हैं। लेकिन यह समय इस तरह पड़े रहने का नहीं है। भूत चाहे जितना उन्नत रहा हो, पर वर्तमान गिरा हुआ है तो भूत भी एक दिन विस्मृति के गर्त में डूब जाने वाला है। आज इस वस्तु स्थिति को समाज अच्छी तरह समझे और सजग हो पुरुषार्थ करने लगे, इसी में सबका श्रेय है।

दूसरा प्रकाशन 'उज्ज्वल प्रवचन' के नाम से भारत जैन महामंडल, वर्धा द्वारा किया गया था। इसमें राष्ट्रीय तथा धार्मिक नेताओं के बारे में समय-समय पर किये गये जाहिर प्रवचनों का संकलन है। ये प्रवचन अपने ढंग के अनोखे हैं। जैन समाज के ही लिये नहीं, सभी वर्ग के लिये ये माननीय हैं। कहा जा सकता है कि इस दिशा में जैन साध्वीजी का यह पहला सत्साहस है।

और यह सन्मति ज्ञान पीठ द्वारा प्रकाशित तीसरा प्रकाशन तो आपके हाथों में ही है। इसमें दिये गये प्रवचन विषयों की दृष्टि से बड़े सुन्दर हैं। इस सम्बन्ध में अभी इतना ही लिखना पर्याप्त है। विशेष पाठकों की रुचि पर ही निर्भर है। इन प्रवचनों में से कुछ एक प्रवचन स्थानीय जैन कोन्फरेन्स के मुख-पत्र 'जैन प्रकाश' में भी प्रकट हो चुके हैं, जहाँ से साभार सम्पादित किये गये हैं।

अन्त में, वही बात जो मैंने 'उज्ज्वल-वाणी' के 'पूर्वाभास' में लिखी थी, यहाँ भी दोहराना आवश्यक समझता हूँ कि पाठक इन प्रवचनों को पढ़ते समय अपनी दृष्टि का सन्तुलन बराबर कायम रखें। ऐसा किये बिना ही यदि कोई इन प्रवचनों का पारायण करेंगे तो वे मूल तत्व से वंचित रह जायँगे। जैन परिभाषा में कहें तो वे सम्यक्त्व के बजाय मिथ्यात्व की ओर बढ़ जायँगे। परम्परा के एकान्त अनुयायी भी इतना समझ कर उन्हें पढ़ेंगे तो मेरा विश्वास है कि उनके रूढ़िगत अंध विश्वासों को दूर करने में ये प्रवचन 'सर्चलाइट' का काम देंगे। सुज्ञेषु किं बहुना ?

मोतीवाला ज्युबिली बाग
तारदेव, बम्बई
गान्धी जयंती १९५१

रत्नकुमार जैन रत्नेश
धर्मशास्त्री, साहित्य रत्न

१. धर्म और विज्ञान .... .... १
२. धर्म और समाज .... .... ८
३. जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति .... .... १६
४. युग धर्म .... .... २२
५. प्रगति के पथ पर .... .... २९
६. जीवन की सार्थकता .... .... ४०
७. संगठन का बल .... .... ४६
८. मर्यादाहीन मानव .... .... ५२
९. व्यवहार शुद्धि .... .... ६४
१०. धर्म को भी फर्नीचर मत बनाओ .... ७२
११. आदर्श के पुजारी बनो .... .... ७८
१२. प्रगतिशील जीवन .... .... ८५
१३. स्वाश्रयी जीवन .... .... ९२
१४. मिट्टी को सोना बनादो .... .... १०५
१५. अपने मन को निर्मल बनाओ .... .... ११०
१६. खादी और जैन धर्म .... .... ११६
१७. आत्मसाधना का राजमार्ग .... .... १२६
१८. नीति और प्रीति .... .... १३१
१९. धर्म दीपक .... .... १४४
२०. कषाय विजय .... .... १५४
२१. सफलता की कुञ्जी .... .... १६५
२२. सर्व धर्म समभाव .... .... १७३
२३. आद्य शक्ति नारी और उसका कर्तव्य .... १८१
२४. जीवन का निर्माण .... .... १९३
२५. शिक्षा का आदर्श .... .... २११

# उज्ज्वल-वाणी

## द्वितीय भाग

# धर्म और विज्ञान

आत्मा और शरीर का जितना निकट सम्बन्ध है, उतना ही निकट सम्बन्ध धर्म और विज्ञान का भी है। आत्मा-रहित शरीर जैसे मुर्दा होता है, उसी तरह शरीर-रहित आत्मा भी निष्क्रिय होता है। कार्य-सिद्धि के लिये दोनों की आवश्यकता अनिवार्य होती है। इसी प्रकार विज्ञान-रहित धर्म सत्य धर्म होने के बजाय भ्रम-जाल बन जाता है और धर्म-रहित विज्ञान मानव समाज का सहायक होने के बजाय संहारक बन जाता है।

विज्ञान और धर्म दोनों का ध्येय प्राणियों को सुखी करने का होता है। विज्ञान सुख के साधन एकत्र करता है, बनाता है, और धर्म उसकी व्यवस्था करता है। विज्ञान शारीरिक कष्टों को दूर करता है तो धर्म मन के क्लेशों को मिटाता है। इस प्रकार धर्म और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक बनते हैं। इसी अपेक्षा से विज्ञान को धर्म का सहायक माना जा सकता है।

भूत, पिशाच और यक्ष आदि के भय से उत्पन्न हुए कई धर्म, धीरे-धीरे विज्ञान की सहायता से ही सत्याग्रही बने हैं, यानी सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, ऐसा मानने वाले बने हैं। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो धर्म के विकास में विज्ञान का महत्वपूर्ण भाग रहा है।

विज्ञान और धर्म मानव-जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। जैसे किसी गाड़ी का एक पहिया बहुत बड़ा हो और दूसरा बहुत छोटा हो, तो इससे उसकी दुर्दशा हुए बिना नहीं रहती है। ठीक इसी तरह आज मानव-जीवन रूपी गाड़ी का विज्ञान रूपी एक पहिया तो बहुत बड़ा हो गया है और धर्म रूपी दूसरा पहिया बहुत छोटा रह गया है। इन दोनों पहियों की इस विषमता से ही आज मानव-जीवन की यह दुर्दशा हो रही है।

जैसा कि कुछ लोग समझते हैं कि विज्ञान से आज सारी दुनियाँ का अहित हो रहा है, ठीक नहीं है। तो, सत्य तो यह है कि आज की दुनियाँ का विज्ञान से अहित नहीं हो रहा है, परन्तु धर्म के पहिये की विषमता से ही अकल्याण हो रहा है। जो लोग विज्ञान से विश्व के संहार की कल्पना कर बैठे हैं, उन्हें इस अन्तर्रहस्य को भी पहले अवश्य समझ लेना चाहिये। इसमें शर्त केवल इतनी ही है कि विज्ञान के विकास के साथ-साथ धर्म का विकास भी उसी परिमाण में अवश्य होना चाहिये।

मनुष्य ने आज वैज्ञानिक क्षेत्र में रेलवे, मोटर, हवाई-जहाज, स्टीमर, प्रेस, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि बना कर काफी प्रगति की है। परन्तु धार्मिक क्षेत्र में तो उसने अभी साम्राज्यवाद के त्याग का कोर्स भी पूरा नहीं किया है? मनुष्य मात्र की राजनीतिक समानता को भी वह प्राप्त नहीं कर सका है? साम्राज्यवाद के त्याग को केवल सत्ताधीशों का ही विषय समझना ठीक नहीं है। यह तो मानव मात्र का विषय है। एक सेठ यदि अपने नौकर पर अधिकार जमाने की वृत्ति रखता है तो यह भी साम्राज्यवाद ही है। पिता,

पुत्र पर, सास, बहू पर और पति, पत्नी पर हुक्म चलाता है तो यह भी साम्राज्यवाद की ही वृत्ति मानी जायगी। इस वृत्ति को दूर कर यानी साम्राज्यवाद के त्याग का कोर्स पूरा कर पूँजीवाद को दूर करने का कोर्स करना चाहिये और तदनन्तर धर्म समभाव, अवस्था समभाव, व्यक्ति समभाव आदि का कोर्स पूरा करना चाहिये।

दुनियाँ के तमाम धर्मों में से अच्छाइयों को ग्रहण करना धर्म समभाव है। मानव-जीवन में सुख और दुःख, धूप और छाया की तरह आने वाले हैं। अतः सुख में फूलना नहीं और दुःख में रोना नहीं, सम्पत्ति होने पर इतराना नहीं और ग़रीबी में कायर नहीं होना, दोनों में एकसी वृत्ति रखना अवस्था समभाव है। अपने और पराये में भेद नहीं रखना व्यक्ति समभाव है। जिसको हम इस नीचे के उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकेंगे !—

एक स्टीमर विलायत के मार्ग पर जा रहा था, पर बीच में ही उसका तला टूट जाने से उसमें पानी भरने लगा। स्टीमर के केप्टिन ने अपने स्टीमर में रखी हुई छोटी-छोटी नावों को बाहर निकाला और फिर उनमें बालकों, स्त्रियों और आदमियों को बैठा कर किनारे पहुँचाने का प्रबन्ध किया। इसके बाद उसने अपने स्टीमर में काम करने वाले आदमियों को तैर कर अपनी जान बचाने के लिये एक-एक लकड़ी का पाटा दिया और एक अपने लिये भी रख लिया। सभी मनुष्य पाटे के सहारे समुद्र में कूद पड़े। अन्त में जब केप्टिन भी समुद्र में कूदने ही वाला था कि उसकी नज़र एक बालक पर पड़ी, जो कि स्टीमर के एक कोने में बैठा रह गया था। केप्टन ने उसे बुलाया और कहा—तू इतनी देर चुप क्यों बैठा रहा ? उस नाव में बैठ क्यों नहीं गया ?

बालक ने उत्तर दिया—मैं ग़रीब हूँ, टिकिट के लिये मेरे पास पैसे कहाँ थे ? टिकिट लिये बिना ही मैं तो स्टीमर में चढ़ गया था, इसलिए उस नाव में कैसे बैठता ? केप्टिन के पास में केवल एक ही पाटा शेष रहा था; जिससे किसी एक की ही जान बचाई जा सकती थी। ऐसे समय में भी केप्टिन ने शीघ्र निर्णय किया और अपने निराधार बाल-बच्चों की परवाह किये बिना ही उसने अपना वह लकड़ी का पाटा उस बालक को अपनी जान बचाने के लिये दे दिया। इधर स्टीमर में पानी भर गया था। कुछ ही देर में उसके साथ-साथ केप्टिन ने भी जल-समाधि ली। इसको हम व्यक्ति समभाव कह सकते हैं। अपने और पराये के जीवन में समानता कायम कर आत्म भोग द्वारा भी दूसरे को बचाने की वृत्ति रखना व्यक्ति समभाव है।

इस व्यक्ति समभाव को हम महात्माजी के एक जीवन प्रसंग से और अच्छी तरह समझ सकेंगे। एक बार जब गांधीजी यरवदा जेल में थे, तब उनके साथ काका साहब कालेलकर भी थे। उस समय हर रोज़ मि० क्वीन उनकी खबर लेने के लिये आया करते थे। मि० कीन आयरिश–आयर्लेण्ड के निवासी थे। गांधीजी उनकी फरमाइश पर उन्हें रोज़ गुजराती पढ़ाया करते थे। एक दिन शाम को जब वह नहीं आये तो दूसरे दिन सुबह बापू ने काका साहब से उनके विषय में पूछा। भोजन कर लेने के बाद पुनः गांधीजी ने काका साहब को बुलाया और उनके बारे में पूछा। काका साहब ने बताया कि कल शाम को वे एक आदमी को फाँसी देने के काम में रुके रहने की वजह से आपके पास नहीं आ सके थे। फाँसी का शब्द सुनते ही

गांधीजी के सामने उसका सारा चित्र खड़ा हो गया और वे अस्वस्थ-से हो गये। उनका चेहरा बदल गया और वे बोले—'काका! ऐसा मालूम होता है कि खाया हुआ अन्न अभी बाहर निकल जायगा।' उस समय गांधीजी की स्थिति ऐसी हो गई थी कि मानों उनको ही फाँसी पर लटकाया जा रहा हो। इसका नाम है व्यक्ति समभाव। दूसरों के दुख भी जब अपने दुःखों की तरह प्रतीत हों और उनको दूर करने के लिये प्राणों का मोह त्याग कर प्रयत्न किया जाय तभी व्यक्ति समभाव का कोर्स पूरा किया जा सकता है।

इस प्रकार जब हम यह कोर्स पूरा कर धार्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे तो धर्म का पहिया बड़ा बन सकेगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि यदि सौ वर्ष तक वैज्ञानिक प्रगति बिल्कुल रुक जाय और सारी शक्ति धर्म के क्षेत्र में ही लगाई जाय तो सम्भव है धर्म और विज्ञान के दोनों पहिये बराबर हो जायँ।

हम में से कइयों की यह मान्यता है कि विज्ञान धर्म का विरोधी है। परन्तु यह एक भ्रम ही है। विज्ञान की मदद ली जाय तो वह सहायक हो सकता है। पर धर्म ही यदि विज्ञान की मदद न ले तो बेचारा विज्ञान क्या करे? उदाहरण के रूप में जब बंगाल में भयंकर दुष्काल पड़ा, तब वहाँ हजारों मानव भूख से मौत के शिकार होते थे। यह बात जब वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा तार, टपाल, समाचार पत्रों द्वारा सर्वत्र फैली तो रेलवे द्वारा खाद्य सामग्री भी वहाँ पहुँचाई गई थी। इस प्रकार धर्म के कामों में विज्ञान सहायक हो सकता है; परन्तु यदि मनुष्य रेलवे द्वारा खाद्य सामग्री पहुँचाने के बजाय संहारक अस्त्र-शस्त्र भेजने लग जाय तो इसमें विज्ञान का क्या दोष हो

सकता है ? मनुष्य यदि धर्म के काम में विज्ञान का उपयोग न कर उसका उल्टा उपयोग करे तो इसमें विज्ञान का नहीं, पर मनुष्यका ही दोष है। अपराध है।

मनुष्य ने विज्ञान उत्पन्न किया और उसका लग्न कर दिया हिंसा के साथ। इससे आज सारी दुनियाँ पर इस दम्पति का भयंकर तांडव चल रहा है। इस दम्पति ने अभी एक ऐसे बालक को जन्म दिया है, जो कि भस्मासुर का नया अवतार माना जाता है। जिसका नाम है अणुबम।

आज की दुनियाँ में अणुबम का भी विरोधी शस्त्र खोजा जा रहा है। सुनते हैं एशिया ने एक ऐसा शस्त्र खोजा है, जिसमें सूर्य की सभी किरणें ( Kosmic Rays ) पकड़ी जा सकेंगी। जैसे सूर्य के अति निकट जाने से वह सब को जला कर भस्म कर देता है, उसी तरह यह शस्त्र भी जहाँ पहुँचेगा वहाँ सब जला कर राख कर देगा। इस विरोधी शस्त्र को खोज़ने में यदि विज्ञान जितना धर्म का पहिया भी बड़ा होता तो अणुबम के सामने ( Kosmic Rays ) नहीं, पर प्रेम का परमाणु बम खोजा जाता। अणु से भी परमाणु अति सूक्ष्म होने से अधिक शक्तिशाली है। अणुबम से भी प्रेम का परमाणु बम अधिक सामर्थ्य शाली है। प्रेम का परमाणु बम जंगल में भी मंगल कर सकता है। हार के समय में भी शांति की अमृत धार बहा सकता है। विनाश के एटम बम का आज यही एक मात्र विरोधी शस्त्र है।

जैसा कि मैंने पहले कहा, सौ वर्ष तक विज्ञान की प्रगति रुक जाय और धर्म की प्रगति में ही सारी शक्ति खर्च की जाय तो संभव है इससे विज्ञान और धर्म के दोनों पहि

समान हो जायँ। परन्तु आज तो धार्मिक और राजकीय दोनों तरह की संस्थाएँ भी धर्म के प्रति बहुत उदासीन बनी हुई हैं। धार्मिक संस्थाओं में भी धर्म का स्वरूप समझाने के बदले केवल शुष्क धार्मिक क्रिया-कांडों को ही महत्त्व दिया जा रहा है। उन्हें इसका भी ज्ञान नहीं है कि बाह्य क्रिया कांड धर्म नहीं हैं, पर धर्म के साधन मात्र हैं। सच्चा धर्म तो हृदय की शुद्धि में ही निवास करता है। परन्तु आज तो बेईमानी और विश्वासघात में चातुर्य माना जाता है। संहार और अधिकार में सभ्यता समझी जाती है। जहाँ तक मनुष्य की ऐसी खोटी सभ्यता में परिवर्तन न हो वहाँ तक धर्म का विकास नहीं हो सकता। धर्म के पहिये को बड़ा बनाने के लिये प्रेम, मैत्री, सत्य और प्रामाणिकता की ही सर्व प्रथम समाज में प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

धर्म को विकसित कर, विज्ञान का हिंसा से संबंध विच्छेद कर, उसका संबंध अहिंसा से जोड़ देना चाहिये। धर्म का लग्न जब विज्ञान के साथ होगा और धर्म विकसित होकर विज्ञान की बराबरी में आवेगा तभी जीव मात्र सुखी हो सकेंगे। जिस दिन धर्म और विज्ञान दोनों पहिये बराबर हो जायँगे उसी दिन स्वर्ग हमारे सामने दौड़ता हुआ चला आयेगा।

# धर्म और समाज

आज हमारा विषय है धर्म और समाज। जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। दोनों के भिन्न-भिन्न होने पर भी इनका पारस्परिक संबंध अति गाढ़ है। शरीर और आत्मा के भिन्न होने पर भी जितना उनका निकट संबंध है उतना ही निकट संबंध धर्म और समाज का भी है। धर्म आत्मा है और समाज उसका शरीर है। आज हमारे समाज रूपी शरीर से धर्म रूपी आत्मा निकल गया है। आपने आज व्यवहार और धर्म को बिल्कुल न्यारे-न्यारे मान लिये हैं। सामाजिक अथवा व्यवहारिक जीवन के साथ धर्म का संबंध नहीं मानने से ही आज समस्त समाज निर्जीव बन गई है। लेकिन यदि धर्म को व्यवहार से भिन्न मान लिया जायगा तो व्यवहार में धर्म की रक्षा कैसे हो सकेगी ? अतः धर्म व्यवहार से भिन्न नहीं हो सकता है।

जिसे अपने जीवन में व्यवहार करना पड़ता है वही धर्म-कर्म का अधिकारी भी होता है। मनुष्य को अपने जीवन में व्यवहार करना पड़ता है तो वही धर्माचरण भी कर सकता है। पशु या देव धर्म का आचरण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि उन्हें अपने जीवन में व्यवहार नहीं करना पड़ता है। व्यवहार तो केवल मनुष्य को ही करना पड़ता है। पाप का फल भोगने के लिये पशु योनि है और पुण्य का फल भोगने के लिये देव योनि। लेकिन मनुष्य को तो ऊँचा और नीचा अपने व्यवहार से ही चढ़ना पड़ता है। इसके

सिवाय और कोई उसके पास उपाय ही नहीं है। जैसा कि एक तत्त्व ज्ञानी ने कहा है :—

If a man is not rising upward to be an angel depend upon it he is sinking downwards to be a devil.

'मनुष्य देव बनने के लिये ऊँचा नहीं चढ़ता है तो समझ लेना चाहिये कि वह राक्षस बनने के लिये नीचे गिर रहा है।' ऐसा चढ़ने उतरने का व्यवहार मनुष्य ही करता है, दूसरा कोई नहीं, अतः धर्म का अधिकारी भी मनुष्य ही बनता है दूसरा कोई नहीं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि धर्म और व्यवहार में दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। एक विद्वान लेखक ने लिखा है—

Tie your tongue, lest it be wanton and luxuriate, keep it within the banks, a rapidly flowing river soon collects mud.

जैसे वेग से बहने वाली नदी में कूड़ा-करकट इकट्ठा हो जाता है उसी प्रकार अमर्यादित बोलने वाले की वाणी में भी असत्य और कटुता रूपी कचरा भर जाता है। अतः मर्यादित भाषा बोलने का प्रयत्न करना जाहिये जिससे कि कई एक दोष स्वतः ही दूर हो जाते हैं। इसी तरह यदि आप चलते समय भी दीन दुखियों की स्थिति का अवलोकन करते हुए चलें, अनाथ और अबलाओं की स्थिति का विचार करते हुए चलें और उनके दुखों को दूर करने का उपाय करें तो आपकी यह चलने की क्रिया भी पुण्य की क्रिया बन जायगी। भोजन करते समय आपके पड़ोस में कोई भूखा तो नहीं है ? ऐसा सोच विचार कर, भूखे को खिला, पिला

कर और बाद में स्वयं स्वाद छोड़ कर केवल खाना है इसलिये खावें तो यह क्रिया भी धार्मिक क्रिया हो जायेगी। व्यापार करते समय भी एकान्त मुनाफ़ा वृत्ति न हो, ग्राहक की स्थिति देख कर ही लेन, देन ज्यादा, कम नाप, तोल न हो तो यह क्रिया भी सदाचार की क्रियाओं का स्थान ग्रहण कर लेगी। इस प्रकार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में धर्म का साथ होना चाहिये। हमारे जीवन में धर्म का पालन कराने में धर्म स्थानक बड़े उपयोगी होते हैं। वे हमारे जीवन में धार्मिक प्रगति और सुगति के लिये चावी भरने का काम करते हैं। जैसे घड़ी में एक बार चावी भर देने पर वह २४ घंटे बराबर चलती रहे तो समझ लेना चाहिये कि घड़ी ठीक काम देती है; लेकिन जब घड़ी ऐसी हो कि जहाँ तक चावी देते रहो वहाँ तक ही चले और चावी न देने पर बन्द हो जाय तो फिर क्या आप उसे घड़ी कहेंगे या बच्चों का खिलौना? ठीक इसी प्रकार व्याख्यान श्रवण करना और धर्म-स्थान में आकर धार्मिक क्रियाएँ करना भी जीवन में चावी भरने के समान है। उनसे आपका दैनिक जीवन व्यवस्थित चलता रहे तो समझ लेना चाहिये कि उनका आप पर असर हो रहा है, लेकिन जब तक व्याख्यान श्रवण करते रहें तब तक तो आप स्थानक में सत्य, अहिंसा का पालन करते रहें और स्थानक से बाहिर निकलते ही उनका असर आप पर न हो तो क्या आप इसे धर्म कहेंगे या धर्म का तमाशा?

धर्म स्थानक में हम जो पढ़ते हैं उसे याद करने का काम तो रात दिन का है। भोजन तो रसोई घर में बनता है और वहीं खाया भी जाता है, लेकिन क्या उसकी पाचन

क्रिया भी वहाँ ही पूरी हो सकती है ? खाना हजम करना और उसको रक्त, वीर्य के रूप में परिणत करना तो रात दिन का काम होता है। चौबीस घंटे इसकी क्रिया चलती रहती है। ठीक इसी प्रकार धर्म को भी धर्म स्थानक में ही मर्यादित न बनाकर जीवन व्यापी बनाना चाहिये। आपको अपनी सामायिक आदि क्रियाएँ भी उपाश्रय तक ही सीमित न बनाकर जीवन व्यापी बनाना चाहिये। तभी उनका कुछ अर्थ भी हो सकेगा।

मनुष्य का आदर्श ऐसा होना चाहिये कि वह कभी भूल कर भी सत्ता और सम्पत्ति के सामने अपना सिर न झुकाये उसे स्वार्थ का पुजारी नहीं, पर सत्य का पुजारी होना चाहिये। क्योंकि स्वार्थ में सन्तोष नहीं होता है। चाहे जितना मिल जाय, पर उससे स्वार्थ की पूर्ति थोड़े ही होती है। एक अनुभव के ये उद्गार कितने सुन्दर हैं:—

Self love is a pot without any bottom, you might pour all the great lakes into it but never fill it uo.

स्वार्थ एक फूटे हुए घड़े के समान है, जिसमें आप सागर के सागर क्यों नहीं उड़ेल डालें, पर वह भरा नहीं जा सकेगा। ठीक इसी तरह स्वार्थी पुरुष को भी चाहे जितनी धन सम्पत्ति क्यों नहीं प्राप्त हो जाय, पर उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकती है। जैन शास्त्र के ये वचन भी इसी सत्य को प्रतिपादित कर रहे हैं—

सुवण्ण रुव्वस्सउ पव्वया भवे,
सिया उ कैलास समा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा उ आगास समा अणंतिया।

कैलाश पर्वत जितने बड़े-बड़े सोने और चाँदी के पर्वत भी कदाचित किसी को मिल जायँ, तब भी एक लोभी के लिये वह पर्याप्त नहीं हैं। क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनंत हैं।

आज पशुओं के प्रति जितना प्रेम भाव दिखाया जाता है उतना मानव के प्रति नहीं दिखाया जाता है। घर पर एक घोड़ा होगा तो उसके लिये एक नौकर भी अवश्य मिलेगा। कदाचित् घोड़ा बीमार हो जाय, तो उसके लिए डाक्टर भी शीघ्र बुला लिया जायेगा, और ऐसी व्यवस्था की जायेगी जिससे कि उसे जल्दी आराम हो जाय। इस प्रकार मालिक अपने घोड़े के प्रति तो इतना ध्यान रखेगा, परन्तु उस घोड़े के लिए रखे गये नौकर का क्या हाल है? उसके लिये रहने का स्थान कैसा है? उसको दोनों समय खाने को मिलता है या नहीं? तबियत बिगड़ जाय तो दवाई की व्यवस्था है या नहीं? इसका भी कोई मालिक खयाल रखता है या नहीं? किसको फुरसत है यह सब सोचने की! स्वार्थ में हानि नहीं पहुँचनी चाहिए यही एक मात्र रहस्य होता है मालिक का। नौकर अशक्त हो जाय या कदाचित् बीमार पड़ जाय तो उसके बजाय दूसरा नौकर रखने में और उसकी पगार काटने में देरी नहीं की जायेगी। लेकिन यह सब क्या है। स्वार्थ की पूजा है सत्य की उपासना नहीं।

प्रिय बन्धुओ! पशु जितना प्रेम भी अगर आप इन्सान से नहीं रख सकते हो तो, न सही, पर जड़ मशीनरी की रक्षा के लिये आप जितना ध्यान रखते हैं, उतना ध्यान तो मनुष्य के लिये भी रखिये! क्या मनुष्य मशीनरी से भी गया बीता है? क्या इस चैतन्य प्राणी की इतनी भी कीमत

नहीं घड़ी, साइकिल, ग्रामोफोन, आदि के बिगड़ जाने पर उनको भी जल्दी ठीक कराने का ध्यान रखा जाता है तो नौकर अथवा पड़ौसी बीमार हो जाय तो उसका कितना ध्यान रखना चाहिये ? लेकिन हमने तो एक ही बात समझ रखी है कि इन व्यवहारों से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है और दूसरी बात हम यह भूल गये हैं कि युग के साथ-साथ धर्म के साधन भी पलटते रहते हैं। धर्म का आभ्यंतर रूप तो सदा सर्वदा एक सा ही रहता है, लेकिन उसका बाह्य स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के अनुसार बदलता ही रहता है। धर्म को भी द्रव्य क्षेत्रादि के अनुसार नई-नई पोशाक पहननी पड़ती है। लेकिन जैसे पोशाक बदलने पर भी आदमी में कोई परिवर्तन नहीं होता है, उसी प्रकार धर्म के बाह्य साधनों के बदलते रहने पर भी धर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता है। धर्म तो सब तरह से समाज का कल्याणकर्ता ही बनता है। 'बहुजनहिताय बहुजन सुखाय' जो-जो उपाय किये जाते हैं वे सब धर्म रूप ही होते हैं। ऋतु परिवर्तन होते ही मनुष्य अपने खान-पान और वस्त्र पहनने में परिवर्तन कर लेता है। सर्दी की मौसम में अच्छे लगने वाले गरम कपड़े गर्मी की मौसम में, और गर्मी की मौसम में अच्छे लगने वाले महीन सूती कपड़े सर्दी की मौसम में निरुपयोगी लगने लगते हैं। जैसे ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ हम खाने-पीने और पहिनने में परिवर्तन करते हैं उसी तरह समय बदलते धर्म के साधनों में भी परिवर्तन अवश्य करना चाहिये।

युग परिवर्तनशील है। हम स्वयँ नहीं बदलेंगे तो जमाना हमें बदल देगा। लेकिन करने और कराने में इतना

ही अन्तर है जितना कि बीमार बन कर सोने में और थक कर सोने में है। परिवर्तन तो आज भी हमारे में हो रहा है, लेकिन हो रहा है अविवेक पूर्वक। हम चलते नहीं हैं, पर समय के प्रवाह में बहे जा रहे हैं। दौड़ते हुए घोड़े पर चढ़ते तो नहीं हैं, पर उसके पैरों में बँध कर घसिटते चले जा रहे हैं। लेकिन इसका नतीजा क्या होगा? यह भी आपने सोचा है? समझ लीजिये दो मुसाफिर हैं, एक घोड़े के ऊपर सवार होकर और दूसरा उसके पैरों में बँध कर प्रवास करता है। दोनों अपने नियत स्थान पर पहुँचेंगे तो जरूर, पर एक जीवित रूप में होगा और दूसरा मरा हुआ। हम भी अगर अपने आप अपने जीवन व्यवहार और धर्म के साधनों में समयानुकूल परिवर्तन करेंगे तो अपने ध्येय को प्राप्त कर लेंगे, परन्तु यदि कुदरत ही परिवर्तन करने के लिये दबाव डालेगी तो उस समय हमारी क्या स्थिति होगी? इसका जरा आप ही विचार कर लें।

आज समाज में अनेक विकार घुस गये हैं। शरीर में से आत्मा के निकल जाने पर कीड़े पड़ना और दुर्गन्ध आना भी स्वाभाविक है। यही स्थिति आज समाज की भी हो गई है। उसका प्राण एक जगह है तो उसका शरीर दूसरी जगह। प्राण-रहित शरीर यानी धर्म-रहित समाज आज सड़ रहा है। जिस दिन समाज और धर्म का समन्वय होगा; पुराना छोड़ कर नया ग्रहण करने का विवेक पैदा होगा, उसी दिन समाज जीता-जागता बनेगा।

भगवान् महावीर ने जीवन पर्यन्त धर्म और समाज के समन्वय के लिये जो अपार परिश्रम उठाया और चारतीर्थ की स्थापना की वह इन दोनों के समन्वय का ही रूप है।

उसका पालन जो मनुष्य केवल धर्म स्थानक में ही करता है और व्यवहारिक जीवन में नहीं, तो वह मनुष्य राज-मार्ग पर बूट पहन कर चलने वाले और काँटों के पथ पर जान-बूझकर अपने हाथों में उन बूटों को लेकर खुले पैर चलने वाले मनुष्य की तरह मूर्खता करता है। धर्म स्थानक में हिंसा और चोरी के, कम-ज्यादा नाप-तोल के प्रसंग ही कहाँ आते हैं? ये सब काँटे तो व्यवहारिक जीवन-पथ पर ही चुभने वाले हैं। इसलिये सक्रिय धर्म पालन की तो खास आवश्यकता वहाँ हैं। ये सभी नीति धर्म के नियम हैं, जिनका पालन करने पर ही निश्चय धर्म का पालन हो सकता है। नीतिकारों ने भी कहा है कि Morality is the brestibula of religion 'धर्मरूपी महल में प्रवेश करने के लिये नीतिरूपी द्वार है।' इस प्रकार धर्म और समाज का समन्वय कर समाज के जीवन को धार्मिक बनावेंगे तो सबका कल्याण होगा।
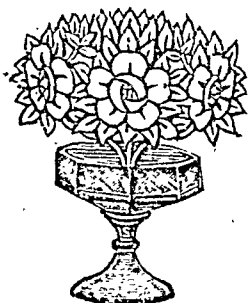
# जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति

संस्कृति शब्द का प्रयोग आजकल प्रायः सर्वत्र किया जाने लग गया है। किन्तु उसका वास्तविक अर्थ क्या है! इसे बहुत कम लोग समझते हैं। अधिकतर लोग संस्कृति के अर्थ को रीति-रिवाज और रहन-सहन तक ही सीमित कर देते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दू संस्कृति का आज बहुधा यह अर्थ किया जाता है कि हिन्दू किस तरह रहते हैं, क्या खाते हैं और कैसा पहिनावा पहनते हैं, आदि आदिबातों के लिये संस्कृति शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यदि संस्कृति शब्द का अर्थ केवल खाना-पीना; रहना और पहिनना मात्र ही हो तो फिर प्रत्येक व्यक्ति के लिहाज से भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ बन जायँगी। इतना ही नहीं पक्षियों की भी संस्कृति हो जायेगी। तोते की एक संस्कृति होगी तो कौए की दूसरी संस्कृति बन जायेगी। क्योंकि दोनों अलग अलग तरीके से घर बनाते हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं है। संस्कृति का अर्थ रीति-रिवाज या रहन सहन नहीं, किन्तु आत्म शुद्धि होता है। जब हम किसी भाषा के पीछे 'संस्कृत' विशेषण लगा देते हैं, तब उसका अर्थ हो जाता है 'शुद्ध भाषा'। संस्कृति यानी धोना, माँजना, साफ करना, मैल को दूर करना। शरीर का मैल पानी से दूर होता है, कपड़े का मैल साबुन से और बरतनों का जंग जैसे खटाई से दूर होता है, वैसे ही जिसके द्वारा आत्मा का मैल दूर हो उसका नाम है 'संस्कृति।'

एक आदमी नहा-धोकर कपड़े पहिनता हो, अपने दिमाग

से रेल और रेडियो जैसी चीजों का निर्माण करता हो, लेकिन फिर भी वह अपने पड़ोसियों को तंग करता हो, झूठ बोलता हो, दुराचार का सेवन करता हो, तो वह संस्कृत पुरुष नहीं कहा जा सकेगा। इतनी योग्यता होने पर भी वह संस्कृति के अभाव में जंगली और असभ्य ही बना रहेगा। कोई भी यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकता है कि आज से ५००० वर्ष पहले के सारथी से आज का हवाई जहाज़ का चालक-पायलट नैतिक दृष्टि से अधिक उन्नत है। और न यह भी कहा जा सकता है कि आज के प्रधान मन्त्री हवाई जहाज या मोटर पर चढ़ते हैं और टेलीफोन से बातें करते हैं अतः अधिक संस्कृत हैं। अगर सचमुच ऐसा नहीं है तो संस्कृति का आज जो अर्थ होता है वह विचारणीय है।

आज यदि आदमियों की आत्म शुद्धि नहीं हुई हो और विकारी भाव घटने के बजाय बढ़े हुए हों तो यह कहना असंगत नहीं होगा कि यह संस्कृति नहीं विकृति ही है।

संस्कृति का छोटा सा अर्थ 'मंजन' होता है। इस दृष्टि से अब हम जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति को देखने का प्रयास करेंगे कि उसने मानव समाज की शुद्धि के लिये क्या क्या किया है और कौन कौन से तरीके बतलाये हैं।

भगवान् महावीर और बौद्ध समकालीन तो थे ही, पर समक्षेत्री भी थे। दोनों के सामने समान परिस्थिति थी। धर्म के नाम पर निर्दोष पशुओं का बलिदान दिया जाता था। ऐसे समय में दोनों राज संन्यासियों ने अहिंसा का नारा बुलन्द किया और कहा कि हिंसा कभी भी धर्म नहीं हो सकती है। दोनों ने उस समय होने वाले हिंसक यज्ञों को बन्द कराने में प्रबल पुरुषार्थ से काम लिया था।

उस समय मिथ्या जाति अभिमान भी अपना पूरा रौब जमाये हुए था। 'हम बड़े हैं' यह रोग खूब फैल गया था। लेकिन दोनों ने इस स्थिति का मुकाबला करते हुए स्पष्ट कहा कि 'कोई भी अपने जन्म से ही ऊँच-नीच नहीं बनता है। मनुष्य अपने गुणों से ऊँच और दुर्गुणों से नीच बनता है। ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने से ही कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता है और न शूद्र के यहाँ जन्म लेने से शूद्र ही रह जाता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में भ० महावीर ने फरमाया है—

कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई खत्ति ओ।
वईसो कम्मुणा होई, सुद्धो हवई कम्मणा।

इसी तरह बुद्ध ने भी कहा है—

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मणा वसलो होति, कम्मुणा होति ब्राह्मणो।

जातिगत ऊँच-नीच का भेद-भाव उस समय तो था ही, पर आज भी यह रोग नेस्तनाबूद नहीं हुआ है। आज भी बिहार में 'मुंड' और 'हुंण' नाम की दो जातियाँ रहती हैं, जो अपने सिवाय किसी को भी आदमी नहीं समझती हैं। उसमें भी ब्राह्मणों की तरह छुआछूत का भूत लगा हुआ है। वे किसी कुत्ते का छुआ हुआ पानी पी लेंगे, पर किसी आदमी का छुआ हुआ पानी हरगिज नहीं पी सकेंगे। कुछ समय पहले जब कि बिहार में अकाल पड़ा था, तब इस जाति के लोग भी भूख से व्याकुल होकर सरकारी भोजनालयों में आकर खाना खा जाते थे। एक बार जब लोग भोजन कर रहे थे तब एक ईसाई मिशनरी वाले ने उनका फोटो लेना चाहा। इसके लिये उसने जैसे ही भोजनालय में अपना पैर रखा कि वे लोग अपना भोजन छोड़ कर भाग खड़े हुए थे।

'हम बड़े हैं' यह रोग बड़ा भयंकर होता है, जिसके लिए भ० महावीर और बौद्ध की शिक्षा ही एकमात्र रामबाण दवा है।

उस समय समाज पर जो दूसरा मैल जमा हुआ था, वह था परस्पर 'वादों' का झगड़ा। आत्मवाद, अनात्मवाद, नित्यत्व, अनित्यत्व, द्वैत, अद्वैत आदि सिद्धान्तों पर उस समय वाद-विवाद हुआ करते थे। इनको दूर करने के लिये दोनों ने दो अलग-अलग मार्ग बताये थे। भ० महावीर ने 'अनेकान्त' यानी स्याद्वाद से सब वादों का समन्वय कर दिया था। एक ही वस्तु में नाना धर्मों का स्वीकार करना स्याद्वाद है। जिसका सीधा-सा अर्थ है 'ही' के बजाय 'भी' कहना। उदाहरणार्थ मनुष्य पुत्र ही नहीं है, वह पिता की अपेक्षा पुत्र है तो पुत्र की अपेक्षा पिता भी है। मामा का भानजा भी है और बहिन का भाई भी है। इस 'ही' और 'भी' के भेद से तत्कालीन वादों के झगड़े प्रायः खत्म हो गये थे।

महात्मा बुद्ध ने इनका समन्वय करने के बजाय इनसे दूर रह कर चार आर्य सत्यों में स्थिर रहने का उपदेश दिया था, और इस तरह सब वादों का अन्त किया था। एक बार बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द ने उनसे पूछा—भगवन्! जब कि दूसरे सब आचार्य ईश्वर सृष्टि, स्वर्ग, मोक्ष आदि की चर्चा करते हैं तब आप उनके विषय में क्यों कुछ भी नहीं कहते हैं? इसका क्या कारण है?

बुद्ध ने उत्तर देते हुए कहा—आनंद, समझ लो एक आदमी तीर से घायल हो गया हो, उस समय उसकी चिकित्सा करने वाला पुरुष यदि उससे यह पूछे कि तीर कहाँ

से आया था ? किसने बनाया था ? मारने वाला कौन था ? गोरा या काला था ? आदि, तो क्या यह योग्य है, या उसकी मल्हमपट्टी करना अधिक अच्छा है।

आनन्द ने कहा—उस समय अन्य सब बातों को दूर रख तीर निकालना और मल्हम पट्टी करना ही ज्यादा श्रेयस्कर है।

बुद्ध ने कहा—'आनन्द! ईश्वरादि की चर्चा करने से तो मानव को दुख से दूर रखने का प्रयत्न करना ज्यादा अच्छा है।' इस प्रकार उस समय की उलझी हुई परिस्थिति सुलझाई थी।

संस्कृति ही आदमी को अनीति और आपत्तियों से बचा सकती है। म० बुद्ध ने संस्कृति घढ़ने के लिए तीन मार्ग बताये हैं। सब प्रकार की बुराइयों से दूर रहना; अच्छे काम करना और दिल को साफ़ रखना।

भ० महावीर ने भी कहा है कि 'असुहादो विणीवज्जि सुहे पवज्जि' अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना और मोह को जीतना ये तीन संस्कृति के सोपान हैं।

अशुभ से निवृत्त होना ही बुराइयों से दूर होना है। जिसका कि दोनों ही धर्मशास्त्रों में खूब विस्तार से वर्णन पाया जाता है। 'सव्वाओ पाणाई वायाओ वेरमणं सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं' आदि व्रतों को संस्कृति के प्रथम सोपान में गिना जा सकता है। जिन-जिन प्रवृत्तियों से दूसरों को हानि पहुँचती हो और आत्म विकास रुकता हो। ऐसी प्रवृत्तियों से निवृत्त होना यह प्रथम सांस्कृतिक सोपान है। दूसरे को लाभ हो और अपना आत्म-विकास हो ऐसी प्रवृत्ति करना दूसरा सोपान है। तीसरा सोपान है दिल

को साफ़ रखना। मोह को जीते बिना दिल को साफ़ कैसे रखा जा सकता है ? हृदय शुद्धि के लिए मोह विजय आवश्यक है। 'मैं' और 'तू' का विचार जितना कम होगा उतना ही आत्मा शुद्ध होगा। मोह को कम करना ही मानव संस्कृति का थर्मामीटर है। लोभ और तृष्णा आदि मोह की जड़ों को सींचने वाले तत्त्व हैं। जिनको नष्ट करने के लिए ही भ० महावीर ने 'लोभ विजय' और बुद्ध ने 'तृष्णा विजय' के सूत्र कहे हैं।

आज की दुनियाँ में जो युद्ध जन्य या अन्य दुख दिखाई दे रहे हैं वे सब तृष्णा मूलक हैं। भ० महावीर ने तो यह स्पष्ट कहा है कि जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता जाता है। लोभी को सारी दुनियाँ भर की सम्पत्ति भी क्यों नहीं मिल जाय, पर फिर भी उसकी तृष्णा का अन्त नहीं होगा। तृष्णा बढ़ने का परिणाम युद्ध और अशान्ति के रूप में होता है। अतः ऐसे तत्वों को नष्ट कर मोह पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची संस्कृति है, और यही संस्कृति का तीसरा सोपान है।

आज की दुनिया में इस संस्कृति की नितान्त आवश्यकता है। इसके बिना आज जो अशान्ति सारी दुनियाँ में व्याप्त हो चुकी है, मिटाई नहीं जा सकेगी। मानव समाज जब इस संस्कृति में तीनों सोपानों पर बढ़ने का प्रयास करेगा, तब इस दुनियाँ पर निस्सन्देह स्वर्ग उतर आयगा।

# युगधर्म

युगधर्म शब्द को सुनते ही आपके मन में जिज्ञासा होगी कि क्या धर्म भी युग के साथ बदलता रहता है? इसका उत्तर 'हाँ' और 'ना' दोनों ही तरह से दिया जा सकता है।

प्रत्येक धर्म के तीन विभाग होते हैं सिद्धान्त विभाग, कथा-पुराण विभाग और आचार विभाग। जिन्हें अंग्रेजी में Principles, ritual, Mythology कहते हैं। जैन शास्त्रकारों ने इसी के द्रव्यानुयोग, कथानुयोग, गणितानुयोग और चरणकरनानुयोग नामक विभाग किये हैं।

सिद्धान्त विभाग में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, दान आदि धर्मों का समावेश होता है, जिनका स्वरूप सभी देशों में, सभी जातियों में और सभी युगों में एक सा ही रहता है। इन सिद्धान्तों में कभी परिवर्तन नहीं होता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि युग परिवर्तन के साथ-साथ धर्म का परिवर्तन नहीं होता है। लेकिन दूसरी दृष्टि से देखें तो देश काल के अनुसार धर्म के अन्य दो विभागों में परिवर्तन होता रहता है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है—

Customs of one age of one yuga have not been the customs of another, and as yuga comes after yuga they will still have to change.

एक जमाना ऐसा था जब कि सर्वत्र भक्तियोग का रंग

छाया हुआ था। लेकिन आज का युग कर्मयोग का है। दूसरे शब्दों में कहें तो सेवा धर्म का है। भक्तियुग में कबीर सूर, तुलसी और मीराबाई जैसे भक्तों की आवश्यकता थी, परन्तु आज के युग में तो कर्मयोगियों की, मूक सेवकों की आवश्यकता है। हमें आज ऐसे कर्मवीरों की ज़रूरत है जो कि बढ़ी हुई विषमता और समानता को दूर कर सामंजस्य पैदा कर सकें।

जहाँ सभी सुखी हों, सभी स्वतंत्र हों वहाँ कर्मयोग की आवश्यकता नहीं रहती है। लेकिन जहाँ विषमता अपनी हद ( सीमा ) पार कर गई हो उसको सीमा में लाने के लिये—सम करने के लिये कर्मयोग की आवश्यकता होती है। हालाँकि पूर्ण समानता तो दुनियाँ में असम्भव बात होगी। क्योंकि साम्यवाद के परिपूर्ण आदर्श को अपनाने से तो प्रजाकीय जीवन में समुचित व्यवस्था ही नहीं रह सकेगी। समझ लीजिये, बुद्धिमान और मज़दूर दोनों को एक समान ही पैसे मिलें तो बुद्धिमान विचारेगा कि साधारण मज़दूरी करने से भी जब इतने पैसे मिल सकते हैं तो नाहक मुझे मगजमारी करने से क्या लाभ है ? शिक्षक और शोधक भी यही सोच कर अपना काम बंद कर देंगे और मज़दूरी करने लग जायेंगे। ऐसा करने से साफ है कि दुनियाँ में अव्यवस्था बढ़ जायेगी और कोई भी अधिक श्रम का कार्य करना पसंद नहीं करेगा। इसलिये समान व्यवस्था रखने के लिये थोड़ा बहुत अन्तर तो अवश्य रखना ही होगा। जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्तानुसार भी पूर्ण साम्यता नहीं हो सकती है। क्योंकि प्राणी मात्र के कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं और कर्मानुसार फल भी भिन्न-भिन्न होगें ही। तब

फिर पूर्ण साम्यता कैसे संभव हो सकती है? अतः आज हमें ऐसी पूर्ण साम्यता का विचार न करते हुए जो विषमता बढ़ गई है उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

विषमता की बीमारी आज सीमा पार कर गई है। एक आदमी दिन भर श्रम कर रहा है तो दूसरी तरफ़ दूसरा आदमी दिन भर विश्राम ले रहा है। लेकिन दोनों को चैन नहीं है। एक को अत्याधिक श्रम मौत के मुँह में पहुँचा रहा है तो दूसरे को अत्यधिक विश्राम भय का कारण हो रहा है। दोनों अपनी अमर्यादित क्रियाओं से दुखी और बेचैन हैं। इन दोनों की विषमता को मिटा कर दोनों को सुखी बनाना यही आज का युग धर्म है।

एक आदमी गगन चुम्बी हवेलियों में मौज-मजा कर रहा है तो दूसरा ठंड के मारे सुकुड़ा जा रहा में, पाँव रखने के लिये उसके पास टूटी-फूटी झोंपड़ी भी नहीं हैं। एक के पास कपड़ों की पेटियाँ भरी हुई है तो दूसरे के पास शरीर ढकने के लिये भी एक हाथ का चींथड़ा नहीं है। एक अजीर्ण से पीड़ित है तो दूसरा भूख से व्याकुल हो मर रहा है। एक ओर सत्ता का मद है तो दूसरी ओर गुलामी की चीत्कार है। यही आज की भयंकर विषमताएँ हैं जो आज के युग में अपना पैर फैलाये चली जा रही हैं।

एक आदमी अपनी श्रीमन्ताई के मद में अकड़ कर चल रहा है तो दूसरा आदमी अपनी गरीबी से गर्दन झुका कर चल रहा है और इस तरह दोनों ही पाप का सेवन कर रहे हैं। क्योंकि गरीबी और अभिमान दोनों ही समान पाप हैं। इन दोनों को अपने पापों से मुक्त करना और सीधी गर्दन रख कर प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर करना ही आज के कर्मवीरों का कर्तव्य है।

इस विषमता को दूर करना श्रीमंतों के लिये जितना आसान है, उतना साधारण आदमियों के लिये नहीं है। लेकिन श्रीमंतों के पास जब पैसा आया तो उसने उनके हृदयों को जड़वत् बना दिया। गरीबों के दिलों में तो फिर भी कोमलता के दर्शन हो सकते हैं, परन्तु प्राय: श्रीमन्तों के हृदय तो पाशाणवत् दृष्टिगोचर होते हैं। तभी तो ईसामसीह ने कहा है कि सूई के छिद्र में से ऊँट का निकल जाना आसान है, परन्तु श्रीमन्तों का स्वर्ग में जाना आसान नहीं है। श्रीमन्तों के विषय में अंग्रेजी में एक स्थान पर कहा गया है—

'Their kitchen is their shrine, the cook their priest, the table their altar and their belly their God'.

श्रीमन्तों के मन में तो उनके रसोई घर ही तीर्थ स्थान हैं, रसोइया उनका धर्म गुरु, भोजन शाला उनकी यज्ञवेदी और उनका पेट ही देव तुल्य है। जो कुछ होता है वह सब पेट के खातिर ही होता है। इसीलिये वे अधिक रोग के घर होते हैं। जैसे जहाँ अधिक अनाज भरा होता है, वहाँ अधिक चूहे होते हैं, वैसे ही जो ज्यादा खाते हैं वे ही अधिक रोगी होते हैं। इसलिये श्रीमन्तों को चाहिये कि वे केवल जनता के हित के लिये ही नहीं, पर अपनी भलाई के लिये भी साम्यता के पथ पर आ जावें।

कुए में गिरा हुआ मनुष्य जैसे दूसरे आदमी को देख लेता है तो उससे अपनी जान बचाने के लिये कहता है। दूसरा आदमी यदि थोड़ा सा कष्ट उठावे तो कुए में गिरे हुए आदमी की जान बच सकती है। लेकिन यदि निकालने

वाला अपने थोड़े से कष्ट के लिये उसे न निकाले तो हम उसे क्या कहेंगे ? निर्दयी दया हीन मानव ही तो उसे कहेंगे न ? ठीक इसी प्रकार जो लोग श्रीमन्त हैं, वे अपने विलास की चीज़ों के त्याग से नाटक, सिनेमा आदि के त्याग से, हज़ारों मनुष्यों की ज़िन्दगी वचा सकते हैं। लेकिन यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो क्या वे भी कुए में गिरे हुए मनुष्य को न वचाने वाले मनुष्य की तरह दयाहीन निर्दयी नहीं हैं ?

निष्कर्ष यह कि दरिद्रनारायण की सेवा करना ही आज का युग धर्म है। स्वामी विवेकानन्द के पास भी जव एक वार एक पंजावी गृहस्थ वेदान्त की चर्चा करने के लिये आये थे, तब उस समय पंजाव में दुष्काल पड़ा हुआ था। स्वामीजी ने दुष्काल पीड़ितों की हालत पूछी और उनकी व्यवस्था के बारे में भी कुछ सवाल उनसे पूछे। इसमें ही काफ़ी समय हो गया तो उस गृहस्थ ने जाते समय स्वामीजी से कहा—मैं तो यहाँ वेदान्त की चर्चा करने के लिये आया था, पर आज का दिन तो यों ही निकल गया। स्वीमीजी ने गंभीरता से उत्तर दिया—भाई ! जहाँ तक मेरे देश का एक कुत्ता भी भूखा रहे वहाँ तक उसको खिलाना और उसकी हिफ़ाजत करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। स्वामी विवेकानन्द का यह उत्तर भी दरिद्रनारायण की सेवा को ही युग धर्म सावित करता है।

युग चार हैं—सत्य युग, द्वापर, त्रेता और कलियुग। आज का युग कलियुग है। कर्म योग से इस युग को भी सत्य युग वनाना यही आज का युग धर्म है। कलि यानी कलह का युग। आज सम्पत्ति के लिये और सत्ता के लिये तरह-तरह के झगड़े होते हैं, धन और धर्म के लिये झगड़े होते हैं। लेकिन यदि सत्य समझ में आ जावे तो ये सव झगड़े मिट सकते हैं।

कोई इसे कलयुग भी कहते हैं। जिस ज़माने में आदमी आज को—वर्तमान को भूल जाये और गये काल का अफसोस करने लगे या आने वाले कल का विचार करे और वर्तमान को व्यर्थ ही खो दे तो यह कलयुग कहा जाता है। आज का यही हाल है। आदमी भूतकाल का अफसोस करते हैं जिसमें कुछ परिवर्तन किया ही नहीं जा सकता, और भविष्य के कष्टों की चिन्ता में डूबे रहते हैं, जो शायद न भी आवें। आवें भी तो उसकी चिन्ता अभी से क्यों करें ? इससे क्या लाभ ? अतः जो भावी और भूत की चिन्ता किये विना वर्तमान को सुधार लेता है वही बाजी मार ले जाता है और उसी के लिये कलयुग भी सत्ययुग बन जाता है।

कल का दूसरा अर्थ मशीन-यंत्र युग है। जिसने आज सर्वत्र दुख दावानल जला रखा है। गाँव में एक आटा पीसने की चक्की क्या आई ? सैकड़ों विधवा बहिनों की रोजी पर कुल्हाड़ा पड़ गया है। सैकड़ों बहिनों की रोटी वह अकेली ही खा जाती है। नल आ जाने से पानी भरने वालों की, सीने की मशीन से हाथ से सीने वालों की, तेल की घानी से तेलियों की, और मीलों से हज़ारों जुलाहों की आजीविका नष्ट हो गई है। इस प्रकार आजकल यंत्रों ने चारों तरफ आफत मचा रखी है। परन्तु इस कल के स्थान पर गृह उद्योग प्रतिष्ठित हो तो फिर से दुनियाँ में सतयुग हो जाय और आदमी को शान्ति और सुख मिलने लग जाय। लेकिन इस बात का अन्त तो यहीं आ जाता है कि आपको गृह उद्योग की चीजें अच्छी नहीं लगती हैं। जो मनुष्य अपना भार अपने आप नहीं उठा सकता वह स्वाधीन पुरुप नहीं कहलाता है। विदेशी लोग हमारे देश को Nation of coolies कुलियों का वतन कहते हैं। अफ्रीका में अच्छा से अच्छा भारतीय

भी कुली ही माना जाता है ।आप अपना बोझा अपने आप नहीं उठा सकते हैं इसीलिये कुली बने हैं। जो अपना बोझा अपने आप उठाता है वह स्वाधीन पुरुष कहलाता है। जो दूसरों का बोझा भी स्वेच्छा से उठाता है वह परोपकारी है लेकिन जो दूसरों का बोझ अनिच्छा से और दूसरे की मरजी से उठाता है वह कुली कहा जाता है आप अपना बोझा आप न उठा कर मैनचैस्टर की मीलों का भार उठाते हैं इसीलिये कुली बने हुए हैं। यदि खादी या खुरदरा पन स्वेच्छा से पसन्द करलें और मैनचैस्टर की मुलायम मलमल का भार ढोना छोड़ दें तो हमारी यह भूमि Nation of coolies के बजाय Nation of Soldiers वीरों की भूमि बन जाय। तब सच्चा युग धर्म फैल जाय, देश सुखी हो जाय और विषमता का अन्त होकर दरिद्रनारायण का उद्धार हो जाय।
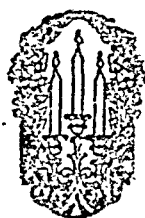
# प्रगति के पथ पर

आज के युग में मानव कई तरह के धंधे करने लग गये हैं। पहले के जमाने में अनाज आदि के आवश्यक और उपयोगी धन्धे होते थे, पर आज तो तैयार आटा भी बेचा जाने लगा है। धन्धे करने की भी तो हद हो चुकी है ? अब तो एक जमाना ऐसा भी आ सकता है जब कि तैयार रोटी भी बिकने लग जायेगी।

पहले घरों में बहिनें अथाणां ( अचार ) डाला करती थीं, पर आज इसके लिये मेहनत करने की जरूरत नहीं रही है। वह तैयार हुआ बाजारों में मिल जाता है। मिर्च मसाले भी घरों में ही तैयार किये जाते थे, जैसा कि आज भी गाँवों में रहने वाली बहिनें अपने घरों में ही तैयार करती हैं, पर वे भी आज शहरों में तैयार हुए मिल जाते हैं और सर्वत्र बिकते भी हैं। आपने देखा होगा कि शहरों में जो भाई मिर्च मसाले या अचार का धंधा करते हैं वे अपने यहाँ बरनियों का ही विशेष उपयोग करते हैं। क्योंकि इनमें उन चीजों के खराब होने का अन्देशा कम रहता है। प्रसंग वश एक बात मुझे याद आ गई है। एक भाई अथाणां ( अचार ) बेचने का ही धंधा करता था। वह अपने यहाँ तरह तरह के अचार बना कर भिन्न-भिन्न देशों की बनी हुई विभिन्न रूप रंगों वाली बरनियों में रखा करता था। एक दिन वे सब बरनियाँ आपस में लड़ने लग गईं और अपनी-अपनी तारीफ के पुल बाँधने लगीं। सबसे पहले

काशी की बरनी ने कहा—मैं सबसे बड़ी हूँ, क्योंकि मेरी उत्पत्ति धर्म क्षेत्र में हुई है। दूसरी बोली मैं पेरिस की सुन्दरता में पली हूँ, जरा मेरी चमक-दमक तो देखो, है ऐसी चमक किसी की ? अतः में सबसे बड़ी हूँ। इतने मैं जापानी बरनी बोली मेरे बेल बूटे तुम सबसे सुन्दर हैं अतः मैं सबसे बड़ी हूँ। जर्मनी की बरनी चुप कैसे रह सकती थी। उसने कहा मेरी कौम दुनियाँ में सब से ऊँची है अतः मैं सब से बड़ी हूँ। अन्त में देशी बरनी ने कहा अरे कोरी चमक-दमक में क्यों मरती हो ? है कोई मुझसे टक्कर लेने वाली। मेरी जैसी मजबूती तुम में कहाँ है ? अतः मैं सबसे बड़ी हूँ।

अचार का व्यापारी यह सब चर्चा सुन रहा था। उसने कहा—रांड़ो ! तुम लड़ती क्यों हो ? तुम्हारा रूप-रंग तो बड़ा सुन्दर है, पर अन्दर क्या भरा है ? यह भी सोचा है ? अथाणां-मिर्च-मसाला ही तो भरा पड़ा है न !

यह एक दृष्टान्त है, जो हमें यह बतलाता है कि मानव रूप रंग से बाहिर कितना भी सुन्दर हो पर जीवन की बरनी में अगर मिर्च-मसाला ही भरा हो तो फिर उसकी ऊपरी सुन्दरता भी किस काम की है ?

कई भाई यह कहते हैं कि हम रोज देव-पूजा करते हैं, सामायिक, प्रतिक्रमण करते हैं। सामायिक प्रतिक्रमण करना बुरा नहीं, अच्छा ही है, पर ऐसे भाई भी न करने वालों से अपने को ऊँचा समझ लेते हैं। मन में अभिमान कर बैठते हैं। कोई भाई-बहिन काँदा-बटाटा ( आलू ) न खाते हों ( न खाना अच्छा ही है ) पर जो खाते हैं उनसे अपने को ऊँचा समझते हैं। इस तरह सब अपनी अपनी धर्म क्रियाओं का उन बरनियों की तरह खोटा अभिमान करते

हैं। वे यह नहीं जानते हैं कि हमारे जीवन की बरनियों में क्या भरा पड़ा है? इसी बात को तपासने के लिये हमारा यह पर्युषण पर्व आता है। क्या हम में से किसी ने इस पर विचार किया है?

धर्म सभी श्रेष्ठ हैं। कोई धर्म, असलियत में अगर धर्म है तो खराब नहीं होता। लेकिन उसकी श्रेष्ठता का अभिमान करना खराब है। आज की दुनियाँ का यही हाल हो रहा है। मानव आज धर्म परायण नहीं धर्माभिमानी बने हुए हैं, जब कि हमको धर्माभिमानी नहीं, धर्मपरायण बनने की जरूरत है। जो धर्मपरायण होंगे वे कभी अपने को ऊँचा नहीं कहेंगे। महात्मा गान्धीजी का सब से प्रिय भजन, जिससे आप भी अपरिचित न होंगे, 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे' इसमें इसी बात का रहस्य बताया गया है कि 'जो पराया दुःख जानता हो वही सच्चा मानव है।' भक्त कवि नरसिंह मेहता ने आगे अपने भजन में कहा है कि 'पर पीड़ा को दूर करके भी जो अभिमान न करे वही वैष्णव है।' बन्धुओ! मैं आप से पूछना चाहती हूँ कि जो जैन बनना चाहता है, वह क्या ऐसा वैष्णव हुए बिना बन सकता है? अथवा इसी को दूसरी तरह कहूँ तो जो अनुकम्पा जैन धर्म में कही गई है उसे स्वीकार किये बिना क्या कोई वैष्णव बन सकता है? जो पर-पीड़ा को समझता हो और उसे दूर करके भी अभिमान न करता हो, वह वैष्णव तो है ही, पर ऐसा पुरुष जैन भी कहा जा सकता है। धर्म का रहस्य तो सबका समान है। दृष्टि जुदी-जुदी हो सकती है, पर देखने वाला जुदा नहीं हो सकता है। ईशु खिस्त ने कहा है:—Love your enemies. 'तुम अपने शत्रुओं को भी प्यार करो।'

जो मनुष्य ऐसा सच्चा खिस्ती हो तो क्या वह जैन नहीं वन सकता है? जैन कुल में उत्पन्न होने से ही कोई जैन नहीं वनता। राग द्वेष को जीतने वाला ही जैन है। तो फिर वह जैन क्यों नहीं वन सकता? 'मित्ति मे सव्व भूएसु' का सन्देश जो भगवान् महावीर ने दिया है, वह क्या ईशु ने नहीं दिया? उसने भी तो अपनी भाषा में कहा है—Love your enemies. तो क्या ऐसा खिस्ती जैन नहीं वन सकता है? क्या आप उसे जैन मानने को तैयार हैं? धर्मपरायण हुए विना हम तैयार कैसे हो सकते हैं? लेकिन ये हमारे धार्मिक पर्व (पर्युषण) तो हमें पुकार-पुकार कर कहते हैं कि 'तुम सिद्धान्त पक्षी मत वनो, सिद्धान्त सेवी वनो।' सिद्धान्त पक्षी वन जाने से तो मिथ्याभिमान पैदा हो जाता है जिससे कि आत्मा का घात होने लगता है, और सम्यकत्व, समभाव या सहिष्णुता की सीढ़ियाँ टूटती चली जाती हैं। अत: आज के परम पवित्र दिवसों में हम अपना अन्तर्निरीक्षण करें और यह देखें कि अपनी जीवन-वरनी में क्या भरा पड़ा है? कहीं उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के मिर्च मसाले तो नहीं भरे पड़े हैं? हृदय पर हाथ रखकर तपासिये तो यही प्रतीत होगा कि अभी तक हमारे हृदय में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के मिर्च मसाले ही भरे पड़े हैं। सद्गुणों की तो गन्ध भी नहीं है। तव फिर हमारी धर्म क्रियाएँ सफल कैसे हो सकेंगी? याद रखिये जव तक ये रहेंगे तव तक हमारी धर्म क्रियाएँ सफल नहीं वन सकेंगी। जैसा कि ईशु खिस्त ने भी अपनी वाइविल में कहा है—

'जव तू अपना आहुति पात्र लेकर मन्दिर में जाता हो तव तनिक ठहर, और यह विचार कर कि तैंने किसी के

साथ दो बुरी बातें तो नहीं की हैं ? अगर की हों तो पहले उनसे क्षमा माँग और फिर तू अपने मन्दिर में जा।'

इससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि धर्म क्रियाओं का कोरा दिखावा न कर उनका अन्तरंग पालन करने में ही उनकी सच्ची सफलता है।

अन्य देशों की अपेक्षा हिन्दुस्तान धर्म प्रधान देश है। यहाँ सब धर्म हैं—ईसाई, इस्लाम, हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि। दूसरे देशों में अलग-अलग धर्मों के मन्दिर आपको नहीं मिलेंगे पर वे हिन्द में सर्वत्र दृष्टिगोचर होंगे। इस दृष्टि से भारत धर्म नगर कहा जा सकता है, दूसरे देश नहीं। धर्म श्रद्धा के नाम पर जैसा शारीरिक कष्ट हिन्द में रहने वाले हिन्दू करते हैं, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं किया जाता है। लेकिन फिर भी हिन्द का हाल विपरीत है। वह दूसरे देशों से अधिक दुखी है। यह क्यों ? जब कि मनुस्मृति में तो कहा है कि—

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'

धर्म की रक्षा करने पर धर्म हमारी रक्षा करता है और धर्म का नाश करने पर वह हमारा नाश कर देता है।' इस कथनानुसार जब हम इतना धर्म का पालन करते हैं तब भी हम दुखी क्यों ? हिन्द दुखी क्यों है ? वह सुखी क्यों नहीं होता ? हम ऊपर क्यों नहीं उठते ? दूसरी तरफ़ रसिया (रूस) कहता है कि 'धर्म अफ़ीम की गोली है।' इस तरह वह धर्म का नाश करता है। लेकिन फिर भी वह सुखी क्यों है ? धर्म का नाश करने वाले का तो नाश होना ही चाहिये। फिर यह विरोधी बात क्यों ?

सच बात यह है कि आज हिन्द में धर्म का दिखावा

मात्र रह गया है, उसका पालन कम किया जाता है। ध
के गुणों का अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, दया, दान
प्रामाणिकता आदि का पालन करना ही धर्म है, जिनका
आज हिन्द में नितान्त अभाव सा है। उनका पालन कि
विना सुख कहाँ से आ सकता है? धर्म का नाश करने वाल
कोई समाजवादी हो या साम्यवादी, पर इन गुणों को
उसे भी मानना ही पड़ेगा। ऐसे धर्म से किसको ऐतराज ह
सकता है? अनेक गुणों को विकसित कर जीवन में प्रकटान
ही धर्म है। जिसके विना जीवन में सुख कहाँ से आ
सकता है?

सहानुभूति या अनुकम्पा मनुष्य का एक लक्षण है हि
धर्म ने पुकार-पुकार कर कहा है—

दया धर्म का मूल है।

क्या यह मूल हमारे जीवन में है? जब मूल ही नहीं त
फिर हमारे जीवन में धर्म कहाँ से हो सकता है? धर्म
विना सुख तो स्वप्न की बात है। इस तरह आज हमारे देश
में जो वास्तविक धर्म है वह विलीन होता जा रहा है, जब
कि अनार्य देशों में यह आज भी नजर आता है। इसीलिये
हिन्द आज दुखी है।

पेरिस के किसी गाँव में एक ग्वाले की लड़की जेनीवीव
रहती थी। एक वार उस गाँव में एक धर्म गुरु आया
जिसका दर्शन करने के लिये गाँव के सभी छोटे-छोटे वालक
भी गये। जेनीवीव भी सब के साथ थी। लेकिन जब ध
गुरु ने उस लड़की को देखा तो उसके माता पिता को बुल
कर कहा—'तुम इसको खूब पढ़ाना-लिखाना, लड़की बड़ी
तेजस्वी प्रतीत होती है।' धर्म गुरु की भविष्य वाणी ठीक

निकली। जेनीवीव जब १५ साल की हुई तब वह धर्म के प्रति सचमुच बड़ी लगन शील बन गई थी। अब वह अपने गाँव को छोड़ कर पेरिस में रहने लग गई थी। पेरिस पर जब एक बार शत्रुओं ने चढ़ाई की तो उस समय इस लड़की ने घूम-घूम कर पेरिस निवासियों से कहा—'तुम घबराओ नहीं, हमारा रक्षण करने वाला तो परमात्मा है, उस पर विश्वास रखो।' इधर तो जेनीवीव ने सब को उपवास करवाया और उधर सैनिकों से कहा—'तुम पूरे सावधान रहो, देखना कहीं शत्रु अन्दर न आ जाय?' दूसरे दिन देखा, तो जो शत्रु इधर आ रहा था वह पेरिस छोड़ कर चला गया था। लेकिन दुनिया तो लड़ाई का घर है। एक के बाद दूसरी मुसीबत न आवे तो दुनिया-दुनिया न रहे। दूसरी बार फिर एक राजा ने पेरिस पर चढ़ाई कर दी। शहर के दरवाजे बन्द कर दिये गये, लेकिन शत्रु ने चारों तरफ़ अपना घेरा डाल दिया। अतः बाहर से कोई चीज़ अन्दर नहीं आ सकती थी। प्रजा कुछ ही दिनों में भूखों मरने लग गई। खाने को उनके पास कुछ न रहा। जेनीवीव ने सोचा लोग भूख से मर रहे हैं, ऐसी स्थिति में मेरा क्या कर्तव्य है? क्या मैं इनको बचा नहीं सकती हूँ? जेनीवीव का दिल दहल उठा। पर आज का मानव कितना निष्ठुर बन गया है? वह अपनी आँखों के सामने तीन दिन के भूखे मनुष्य को देख कर भी रेडियो सुनता रहता है। इन्सानियत का खुला विद्रोह है, वह उसकी पीड़ा का विचार तक नहीं करता। लेकिन संस्कारी आत्मा ऐसा नहीं कर सकता है। उसका दिल तो टूक-टूक हो जाता है। दुखियों के दुखों को देख कर उसका दिल दहल उठता है। जेनीवीव ने सोचा छोटे-छोटे बालक भूख से तड़प रहे

हैं, उनको अवश्य बचाना चाहिये। लेकिन गाँव के बाहर जाना मौत के मुँह में जाना था। पर उससे न रहा गया। वह किसी तरह गाँव के बाहर नदी के किनारे आई और एक नाविक से बोली—'भाई, लोग भूख से मर रहे हैं, बच्चे तड़प रहे हैं मैं उनको अनाज लाकर दूँगी। तुम मुझे उस पार पहुँचा दो। जान बूझ कर मौत के मुख में कौन जाना चाहेगा? नाव वाले उसे ले जाने को तैयार नहीं हुए। विवश हो जेनीवीव नदी में कूद पड़ती है और तैर कर वह नदी पार करना चाहती है। यह देख कर एक नाविक का दिल पसीज जाता है और वह उसे अपनी नाव से उस पार पहुँचाता है। जेनीवीव पास के गाँव से नाव भर कर अनाज लाती है और हज़ारों मानवों को मौत के मुख में जाने से बचाती है। दस साल तक शत्रुओं का घेरा लगा रहा, पर वह इस तरह अनाज लाकर लोगों को जीवन देती रही। अन्त में उसने एक दिन शत्रुओं से मिल कर कहा—'भाई, तुम्हारा हिसाब तो परमात्मा के सामने होगा, नाहक यहाँ क्यों लोगों को परेशान करते हो।' जेनीवीव का असर शत्रुओं के दिलों पर भी पड़ता है और वह भी अपना घेरा छोड़ कर चला जाता है। कहने का मतलब इससे इतना ही है कि जेनीवीव के हृदय में जिस तरह अनुकम्पा का मधु रस भरा हुआ था उसी तरह हमारी जीवन बरनी में भी अनुकम्पा, दया, सहानुभूति का मधु-रस भरा है, या क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के मिर्च-मसाले ही भरे पड़े हैं? विचारिये और देखिये। हमारे पर्युषण इसी की जाँच करने के लिये आये हैं और आते रहते हैं।

मेरी बहिनें आज ८ उपवास करती हैं, पर जब तक वे अपनी नई साड़ियों का मोह न छोड़ें, और ढंक भरने की

इच्छा कम न करें, तब तक उनके उपवास के त्याग का पूरा फल नहीं मिल सकता है। बिल्कुल न करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है, पर नई-नई डिजाइनों को देखकर खरीदने की मनोवृत्ति रखना और परिग्रह का त्याग न करना, ऐसे उपवासों से कुछ आत्म-सुधार थोड़े ही हो सकता है। त्याग को अपने जीवन में उतारा जाय और मोह को कम किया जाय तो मेरी बहिनों का यह त्याग केवल एक दिन का उपवास भी अपने जीवन का कल्याण कर सकता है।

मनुष्य को जो सम्पत्ति मिली है वह समाज की है। उसको अपनी समझना निरा दंभ करना है। 'उपासकदशांग' में दस श्रावकों का वर्णन आया है। आपने सुना होगा, सब अपने-अपने धन की मर्यादा करते हैं, पर धंधा ( व्यापार ) बन्द नहीं करते हैं। इसलिये कि अन्य लोगों का गुजारा चलता रहे। महात्माजी ने भी कहा है—'तुम अपने धन के ट्रस्टी बनो. अधिकारी नहीं। पर आज का मानव तो धन में ही लिपट गया है। उसे छोड़ता ही नहीं है। लेकिन आज का हमारा यह पर्व तो यह कहता है कि हम अपनी इस मनोवृत्ति को दूर करें और धन-वैभव को अपना नहीं, समाज का है, समझें।

एक लखपती सेठ गंगा में नहा रहा था। कुछ दूर पर उसे एक लकड़ी तैरती हुई दिखाई दी। लकड़ी सुन्दर थी, वह उसे तैर कर ले आया। परन्तु बीच में ही वह उसके हाथ से छूट कर चली गई। सेठ बाहर निकला और उस लकड़ी के लिये चिल्लाने लगा कि मेरी लकड़ी बह गई है। पास ही एक संन्यासी बैठा था। उसने कहा—सेठजी, जब तुम आये थे तब तो तुम्हारे पास लकड़ी नहीं थी, फिर कौनसी लकड़ी बह गई है? सेठ ने कहा—महाराज, उस

समय तो मेरे पास नहीं थी, पर अभी गंगाजी में जो मुझे मिली थी ! संन्यासी ने कहा—वह तुम्हारी लकड़ी कहाँ थी, जो तुम उसके लिये चिल्ला रहे हो ? तुम अपने साथ में तो नहीं लाये थे न ?

वन्धुओ ! यही हाल आज आपका भी हो रहा है। आप आये तो धन आपके साथ कहाँ था ? पाँच-पचास साल तक आपके पास धन रह गया तो क्या वह आपका हो गया ? अरे, यह आया कहाँ से ? मनुष्य पैदा हुआ तब तो साथ में नहीं लाया था। तब फिर उस पर अपना दंभ करना कहाँ तक उचित है ? वह सचमुच आपका नहीं, समाज का है। अब तक आपने उसे अपना समझ कर जो भूल की है उसे समाज को देकर प्रायश्चित कर लेना चाहिये। महात्मा गांधी जी के कथनानुसार उसे समाज की सेवा में अर्पण कर देना चाहिये।

हिन्दू धर्म में कहा है कि विना पूछे किसी वस्तु को लेना चोरी है। जिस वस्तु की दूसरे को ज़रूरत है, उसे होने पर भी न दे तो वह भी चोर की तरह गुन्हेगार होता है, इसका भी स्पष्ट उल्लेख शास्त्रों में किया गया है। धन आपका नहीं, समाज का है। उस पर आपका हक समझना वलात्कार है— सबसे भयंकर गुनाह है। उसे तो समाज को ही सौंप देना चाहिये।

आज के धनिकों के कार्य ही चोरी के हैं। वे सिर्फ पाँच-दस के नहीं, हजारों के चोर हैं। उनको तो अपना सब कुछ छोड़ कर, जिसका है उसी को सौंप देना चाहिये और जैसे थे वैसे ही हो जाना चाहिये।

अस्तु, आज के परम पवित्र दिवसों में हमको अपना

जीवन हल्का, निर्दोष बना कर अभिमान का त्याग करना चाहिये और आत्म-शोधन की ओर अग्रसर होना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह को त्याग कर आगे बढ़ना चाहिये। आगे बढ़ना मनुष्य का स्वभाव है, पर किस दशा में बढ़ना, यह सोच समझ कर आगे बढ़ना चाहिये। आज मानव विपरीत दिशा की ओर बढ़ रहा है, वह काम, क्रोध, लोभ, मोह की ओर बढ़ रहा है। इस दिशा को छोड़ कर अगर वह प्रेम, क्षमा, दया और दान की ओर बढ़ेगा तो निश्चय ही वह अपने जीवन को सफल कर प्रगति की ओर गति कर सकेगा।

# जीवन की सार्थकता

पग में या पगरखी ( जूते ) में शूल या कंकर चुभ जाय तो आसानी से आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। मनुष्य का स्वभाव आगे बढ़ने का है, पर जब हृदय में पाप के कंकर भरे पड़े हों तो क्या वह आगे बढ़ सकता है ? हमको अपना हृदय तपासना है कि हम इतनी धार्मिक क्रियाएँ तो करते रहते हैं, पर क्या अपने हृदयों में पशुत्व के पाप के कंकर तो नहीं भरे पड़े हैं। जो कि हमें इतनी धार्मिक क्रियाएँ करते हुए भी आगे नहीं बढ़ने देते हैं।

पशुत्व और पैशाचिकता मानव हृदय के विकारी भाव हैं। पशुत्व यानी स्वार्थ बुद्धि। अपना भाई ही प्रिय हो, दूसरा नहीं, अपना सुख ही अभीष्ट हो, दूसरों का नहीं, यह स्वार्थ-वृत्ति है। आप अपनी लड़की को रुपये रखने के लिये एक तिजोरी दें, पर आपका जमाई उसमें रुपयों के बजाय कंकर-पत्थर भरे तो क्या आपको दुख नहीं होगा। कुदरत ने जब हमें विवेक बुद्धि दी है, तब भी अगर हम अपने मन-मन्दिर में कूड़ा-कचरा ही भरें तो क्या बुरा नहीं लगेगा ? क्या कभी हमने इसका विचार किया है कि अपने हृदय में कहीं पशुत्व का या पैशाचिकता का तो साम्राज्य नहीं है ? तनिक गहरा सोच-विचार करेंगे तो आज संसार में इन्हीं बलों का प्रभुत्व दिखाई देगा। जिससे मनुष्य मानव नहीं दानव बनते जा रहे हैं, रक्षक नहीं भक्षक बनते जा रहे हैं। मनुष्य चाहे पंडित हो या वैज्ञानिक, व्यापारी हो या राज्याधिकारी,

जब अपने बल का दुरुपयोग करने लग जाता है तो वह पैशाचिक वृत्तिवाला हो जाता है। बंगाल का एक प्रसंग है। एक वकील था, जो न्याय-नीति से अपना धंधा करता था। खर्च से अधिक कमाने का उसे लोभ नहीं था। दुर्भाग्य से वह कम उम्र में ही मर गया। उसके घर में उसकी स्त्री, पुत्र तथा पुत्री तीनों अब निराधार हो गई। पुत्र कमलनाथ को जैसे-तैसे उसकी माँ ने मैट्रिक तक पढ़ाया-लिखाया, पर आगे पढ़ाने की अब उसकी हिम्मत नहीं थी। वह अपनी हालत से मजबूर थी। उसने कहा—बेटा, अब तो कोई नौकरी ढूँढो और अपना गुजारा करो, आगे पढ़ने-पढ़ाने जैसी तो अब हमारी स्थिति नहीं है। लड़के ने रेलवे का काम सीखा और सीख कर वह एक रेलवे बाबूजी के पास गया, जो कि दूसरों को नौकरी पर लगाया करते थे, और बोला—बाबू जी, महरबानी कर मुझे भी कोई नौकरी दीजिये। मेरी स्थिति बड़ी नाजुक है। आज है तो कल खाने का भी पता नहीं हैं। घर में माँ और एक बहिन भी है।

बाबूजी लोभी थे। उन्होंने कहा—५००) रु० ले आओ, तो मैं तुम्हें नौकरी दे सकता हूँ। लड़के ने लाचारी से कहा मैं कहाँ से लाऊँ बाबूजी? खाने का तो पता ही नहीं है और पाँच सौ रुपये? बाबूजी ने कहा—पैसे बिना नौकरी कहाँ रखी है? पैसे न हों तो लेकर आओ कहीं से। लड़का अपनी माँ के पास आया और सब हाल कह सुनाया। माँ ने कहा—बेटा, तेरे पिताजी के एक मित्र हैं, उनके पास जा, तो वे तेरी सहायता जरूर करेंगे। लड़का उनके पास भी गया; पर मनुष्य का स्वभाव है कि वह कितना भी किसी का प्रेमी क्यों न हो, पैसा बड़ी मुश्किल से निकालता है। विवश हो उसने १००) रु० लड़के को दिये। लड़का सौ रुपये लेकर

बाबूजी के पास गया, परन्तु बाबूजी ने सिर हिलाते हुए कहा—पूरे पाँच सौ रुपये लाने पर ही तुम्हें नौकरी मिल सकती है, अन्यथा नहीं। लड़का पुनः अपनी माँ के पास लौट आया। अब माँ स्वयं बाबूजी के पास जाने को तैयार हुई।

शास्त्रों में कहा है कि लोभ सबका नाश कर देता है। भगवान् महावीर ने कहा है कि लोभ का नाश करो। लोभ ही पाप का मूल है। सभी पाप इसी से पैदा होते हैं। वृद्धा माँ बाबूजी के पास आई और लाचार होकर बोली—बाबूजी! महरबानी कर सौ रुपया तो ये ले लीजिये और बाकी के रुपये नौकरी में से चौथे हिस्से के हर माह काटते रहियेगा, जब तक कि पाँच सौ रुपये पूरे नहीं हो जायँ। अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं। अतः लाचारी है। महरबानी कर आप मेरे बच्चे को नौकरी दे देंगे तो मैं जिन्दगी भर आपका अहसान नहीं भूलूँगी। बाबूजी ने कहा—चार सौ रुपये हों तो यहाँ आना, नहीं तो दूर हो यहाँ से। बिना पैसों के भी कहीं नौकरी मिलती होगी? माँ और बेटा उल्टे पैरों घर लौट आये। हालत दिन-दिन गिरती ही गई। बूढ़ी माँ को चैन नहीं था। वह दो महीने बाद पुनः बाबूजी के आफिस के पास जा खड़ी हुई और उनके आने की राह देखने लगी। ज्योंही बाबूजी आये उसने उनके पैर पकड़ लिये। बाबूजी लात मार कर गुस्से में आगे तो बढ़ गये, परन्तु तत्क्षण उनके मन में शंका पैदा हो गई। उन्होंने अपने नौकर से कहा—जाओ, कमलनाथ को बुलाकर लाओ। देखो, सामने जो वह मकान दीख रहा है, वही उसका घर है। नौकर कमलनाथ के घर गया तो स्तंभित रह गया। एक तरफ कमलनाथ सो रहा था तो दूसरी तरफ

उसकी वहिन। नौकर ने पुकारा—कमलनाथ ? कमलनाथ न जाने कितने दिनों का भूखा-प्यासा था। उसने इशारे से पानी माँगा। नौकर सहृदय था। उसने उसे पानी पिलाया और वाहर से लाकर कुछ भोजन भी कराया। फिर कहा—कमलनाथ! तुम्हें वावूजी बुलाते हैं। कमलनाथ चलने को तैयार होता है, पर कई दिनों का भूखा होने से उससे चला नहीं गया। आँखों के सामने लाल-पीले नजर आने लगे और सिर फिरने लग गया। उसने कहा—भाई, मैं आज नहीं कल आऊँगा। नौकर वापिस लौटा तो क्या देखता है कि उसकी माँ आफिस के वाहर मरी पड़ी है और आस-पास लोगों की भीड़ जमा हो गई है। पुलिस ने जाँच-पड़ताल कर वावूजी को कैद कर लिया और वह लाश उठा ले गई।

कमलनाथ को जब यह खबर मिली कि उसकी प्यारी माँ, जो एकमात्र दुनिया में उसका सहारा थी, अब नहीं रही है तो उसे असह्य वेदना हुई। पर उसने सोचा—जो होना था वह तो हो ही गया है। अब दूसरे के खिलाफ द्वेष जागृत करने से क्या लाभ है? वहू के हाथ से यदि १०) रु० की वरनी फूट जाय और सासू उसे जी भर कर बुरा-भला भी कहे, तो क्या वह फिर से जुड़ सकती है? नहीं, तो फिर नाहक दूसरे को बुरा कहने से क्या लाभ? अदालत में वावूजी पर मुकदमा दायर हुआ। सारा गाँव उनका दुश्मन था। कोई भी वावूजी के पक्ष में गवाही देना नहीं चाहता था। जज आया और उसने सबसे पहले यही केस अपने हाथ में लिया। उसने वावूजी को फाँसी की सजा सुनाते हुए कहा—वावूजी! क्या कोई तुम्हारे वचाव में कुछ कहने वाला है? वावूजी चारों तरफ देखने लगे, पर उनके नौकर-चाकर भी उनके पक्ष में वोलने को तैयार नहीं थे। इतने में सामने से

एक लड़का दौड़ता हुआ आया और बोला—जज साहब! बाबूजी के पक्ष में मैं कुछ बोलना चाहता हूँ। जज की आज्ञा मिलने पर लड़के ने कहा—मेरी माता को मारने के अपराधी बाबूजी नहीं हैं। वह तो अपनी कमजोरी से ही मरी है। इसमें बाबूजी का क्या दोष है? बन्धुओ! अब आप समझ गये होंगे कि किसके मन में कंकर भरे हुए थे और किसके मन में हीरे। बाबूजी की जान बच गई। कमलनाथ की इस दयालुता से आकर्षित होकर एक लखपती सेठ ने अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर दिया और अपना सारा धन भी उसे सौंप दिया। कमलनाथ ने अपनी इस प्राप्त सम्पति का उपयोग अपने मौज-शौक में न कर अनाथालय और विधवा-आश्रम खोलने में किया।

कहने का सारांश इतना ही है कि मानवता के सिद्धान्त सबके मन में होने चाहिये। उनके पालन में ही जीवन की सफलता समाई हुई है। नम्रता मानव का पहला गुण है। यहाँ यह बता देना जरूरी है कि आप सब साधुओं को नमस्कार तो करते हैं. लेकिन क्या सभी साधु एक ही स्वभाव के होते हैं। साधु उसे कहते हैं जो किसी सम्प्रदाय का मानने वाला न हो, संग्रहवृत्ति वाला न हो, जिसमें बाह्य आडम्बर न हो, ऐसे साधुओं में ही नम्रता पाई जा सकती है। दूसरा गुण है भद्रिकपना। भद्रिक यानी भोला, कुछ नहीं समझने वाला, लेकिन भद्रिक का अर्थ कल्याणकारी होता है। जैसे कि एक स्वयंसेवक है, जो गली-गली का कचरा निकालता है। एक बहिन उसके साफ किये हुए स्थान पर कचरा डाल देती है। लेकिन वह स्वयंसेवक सोचता है कि इस बहिन ने अपने घर का कचरा तो साफ किया है। मेरा काम तो सफाई करना ही है। ऐसा सोच कर वह नाराज़

नहीं होता है। इसी तरह जो अपने अनुकूल सोचता है वही भद्रिक समझना चाहिये।

तीसरा गुण है अनुकम्पा। दुखियों को देख कर हृदय में दया के भाव पैदा होना अनुकम्पा है। आजकल हम कई दीन-दुखियों को देखते हैं, पर हृदय में दया के भाव बहुत कम जागृत होते हैं। अतः हमारा हृदय दुखियों को देखकर द्रवित होना चाहिए।

चौथा गुण है प्रमोद भाव। दूसरे को देखकर खुशी होना प्रमोद भाव है। एक व्यापारी को देखकर दूसरा व्यापारी आज उससे ईर्षा करने लगता है। 'किस भाँति वह मेरे से नीचे गिरे' यह प्रकृति आज मनुष्य के हृदय में घर कर गई है। अतः इसको छोड़कर अपने असली स्वरूप प्रमोदभाव को प्राप्त करना चाहिए। स्वार्थ की घृणित मनोवृत्ति को त्याग कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को अपनाना चाहिये।

अब सोचना यह है कि हमारे हृदय में भी कहीं पैशाचिकता के कंकर तो नहीं भरे पड़े हैं? एक अंग्रेज़ लेखक ने कहा है कि 'मनुष्य का हृदय पाप रूपी बिच्छुओं से भरा हुआ है।' जैसे बिच्छू का डंक मानव को विकल कर देता है वैसे ही इस पाप से भी मानव-हृदय विकल—बेचैन रहता है। इसलिये उनको निकाल कर सद्गुणों को प्राप्त करना ही मानव जीवन की सार्थकता है।

# संगठन का बल

भगवान् महावीर ने जैन शास्त्रों में फरमाया है कि जैसे-जैसे समय आगे निकलता जायगा वैसे-वैसे शारीरिक बल, बुद्धि बल, मानसिक बल, आत्म बल, नैतिक बल, उदारता, प्रेम संपत्ति आदि घटते चले जायँगे और वस्तुओं के रस कस भी क्षीण होते जायँगे।

इस बात की वास्तविकता के लिये प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं है। आपने इतिहास में भी पढ़ा होगा कि किसी समय एक आदमी ही दस आदमियों से मुकाबला करने की शक्ति रखता था। ऐसी उसकी शारीरिक शक्ति होती थी। लेकिन आज तो शारीरिक शक्ति इतनी क्षीण हो गई है कि एक चोर को सामने देखते ही कई आदमी थर-थर काँपने लग जाते हैं। इसी प्रकार बौद्धिक बल भी घट गया है। पहले के जमाने में प्रत्येक बालक ७२ कलाओं में निपुण होता था। लेकिन आज के बालक को तो एक कला भी पूर्णतया अवगत नहीं होती है। मनो बल और नैतिक बल की भी यही हालत है। मनो बल और नैतिक बल के अभाव से ही कितनी बातें हम उचित होने पर भी आचरण में नहीं ला सकते हैं। इस तरह इस कलियुग में सभी शक्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं। शक्ति के बिना सिद्धि नहीं मिल सकती है। यह भी एक निर्विवाद बात है। तब फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि किसी भी कार्य की सफलता के लिये हम किस शक्ति की सहायता लें? जिससे कि हमारा कार्य सफल हो जाय।

मिल चुकी है और उससे मोक्ष में भी जाया जा सकता है। परन्तु मतों और पंथों की खींचातानी में हमने इस धर्म रूपी डोरी के तार बिखेर दिये हैं। अतः पुनः इन्हें एक साथ गूँथने की ज़रूरत है।

एक वृक्ष को हरा भरा रखने के लिये उसकी जड़ों में पानी डालने के बजाय यदि हर एक मनुष्य अपनी-अपनी इच्छानुसार उसकी डालियाँ और पत्ते तोड़ता रहे तो क्या वह हरा-भरा रह सकेगा ? थोड़े ही समय में वह वृक्ष छिन्न-भिन्न नहीं हो जायगा ? ठीक ऐसा ही काम कहीं हम भी तो नहीं कर रहे हैं ? भ० महावीर के द्वारा बोये और सींचे गये जैन धर्म के वृक्ष को उत्तरोत्तर विकसित करने के बजाय हमारे ये सभी पंथ और मत उसको नष्ट करने का काम कर रहे हैं। अतः हमारा यह सर्व प्रथम कर्तव्य है कि पंथ और मतों का व्यामोह छोड़ कर जैन धर्म के सच्चे स्वरूप को अपनावें।

जैसे गाँधीजी कहा करते थे कि—I am Indian first and Hindu or Muslim afterwards. मैं हिन्दुस्तानी पहले हूँ, और इसके बाद हिन्दू या मुसलमान। वैसे ही हमको भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी आदि कहलाने के बदले जैन कहलाने में अपना गौरव समझना चाहिये।

एक पर्वत पर से निकलने वाली भिन्न-धाराओं का कोई उपयोग नहीं होता है। लेकिन वे धाराएँ जब मिल कर एक दिशा की तरफ बहने लगती हैं और नदी का रूप धारण कर लेती हैं तब सैकड़ों मील पृथ्वी को अपने जल से सींच कर फलप्रद बना देती हैं। अन्त में अपना ध्येय सागर में

मिल कर एक होने का भी पूरा कर लेती हैं। जब कि धाराएँ तो थोड़ी दूर बहकर ही सूख जाती हैं।

हाईड्रोजन और ओक्सीजन दोनों के संगठन से ही पानी तैयार होता है। यदि इनका संगठन टूट जाय तो हमारी कैसी हालत हो जाय? इसी प्रकार इलेक्ट्रिक के पोजिटिव नेगिटिव के दोनों तारों को अलग कर दीजिये और फिर देखिये क्या होता है? आप अपने पंखों के और विजली के बटन दबाते ही जाइयेगा, पर उससे कोई लाभ नहीं होगा। विमानों का उड़ना, स्टीमरों का तैरना, ये सभी आज के वैज्ञानिक साधन भी तो जल और अग्नि के संगठन पर कार्य कर रहे हैं। अरे! यह विशाल स्थानक की इमारत भी तो आपको संगठन का ही आदेश दे रही है। इस इमारत का एक-एक रजकण भी आपसे यह कह रहा है कि 'हम सब सुसंगठित होकर ही आपकी यह महान् सेवा कर रहे हैं।'

अगर कोई एक इमारत बनाने के लिये १ लाख रुपयों का फंड तो कर ले, पर ईंट, चूना और पत्थर संगठित होने से इन्कार कर दे या कोई कुशल कारीगर उनका संगठन न करे तो क्या किसी इमारत का निर्माण हो सकेगा? इन सब उदाहरणों से आप समझ गये होंगे कि संगठन में कितनी शक्ति रही हुई है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान में रखने की है कि संगठन में भी विवेक का होना निहायत ज़रूरी है। संगठन के साथ सत्य और न्याय होना चाहिये। अन्यथा संगठन तो बदमाशों का भी होता है। डाकू और लुटेरों का भी होता है। सत्य और न्याय रहित संगठन जनता का अहित करता है। न्याय और सत्य समन्वित संगठन ही एक प्रचंड शक्ति है जो प्राणी मात्र का इस कलियुग में विकास कर सकती है।

संगठन, जीवन का पर्यायवाची शब्द है और मृत्यु का पर्यायवाची शब्द है फूट। जैसा कि कहा है—The other name of union is life and the other name of death is seperation, आप किसी भी कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र का जरा वारीकी से निरीक्षण करेंगे तो आपको रस्किन के उपर्युक्त वाक्यों का सत्य समझ में आ जायगा। जिनमें संगठन है वे जिन्दे हैं और जिनमें नहीं है वे मरे हुए के समान हैं।

घास के एक तिनके ( तृण ) में जितनी शक्ति होती है उससे सौ गुणी ज्यादा शक्ति सौ तिनकों में होती है, ऐसा गणितशास्त्र से सिद्ध है। परन्तु अनुभवशास्त्र तो यह कहता है कि जब उन्हें एक साथ वाँध दिया जाता है तब उनमें सौगुणी नहीं, हजार गुणी शक्ति आ जाती है। संगठित होने से उनकी इतनी शक्ति बढ़ जाती है। सामुदायिक शक्ति का वर्णन करते हुए एक स्थान पर विश्वकवि टैगोर ने लिखा है—Tiny grass your steps are small but you possess the earth under your trade.

नन्हीं-नन्हीं दूब कितनी छोटी होती है, परन्तु फिर भी वह मिलकर सारी पृथ्वी को अपने नीचे ढाँप लेती है। छोटे-छोटे कंकरों से गगनचुम्बी पहाड़, निर्माल्य जल बिन्दुओं से अगाध उदधि और नगण्य सैकंड—क्षणों से युग, बनते और वीतते चले जाते हैं। वताइये, सब किसका परिणाम है? संगठन का ही तो है। तब फिर हम इसे क्यों भूल रहे हैं? अब समय भूलने का नहीं है। तैयार हो जाइये और अपनी सामुदायिक शक्ति का परिचय देकर दुनिया में अपना आदर्श कायम कीजिये।

# मर्यादा हीन मानव

पृथ्वी का गुण ( स्वभाव ) स्थिर रहना है। इसलिये उसे अचला भी कहते हैं। पाँच मिनट के लिये भी यदि यह पृथ्व अपना स्वभाव छोड़कर अस्थिर बन जाय। तो सर्व प्रलयंकारी भूकंप हो जाय, लाखों की जन-माल की हानि हे जाय और सब बने बनाये मकान ढह जायँ। हवा यदि अपनी मर्यादा छोड़कर अमर्यादित गति से बहने लग जाय तो भयंकर तूफान खड़ा हो जाय, दरिया में रहे हुए स्टीमर उसी में समा जायँ, सैकड़ों साल पुराने पेड़ उखड़ कर नीचे गिर जायँ, मकान दब जायँ और घर के छप्पर न जाने कहाँ उड़ जायँ। सन् १६४८ में जब बम्बई में ऐसा तूफान आया था तब आपको याद होगा कि उस समय तीन दिन तक वहाँ का सब व्यवहार बंद हो गया था। नदी का पानी दो किनारों में ही बहता है; परन्तु वही पानी जब अपनी मर्यादा छोड़कर बहने लग जाता है तो प्रलय मचा देता है और गाँव के गाँव उजाड़ देता है। और यदि अग्नि अपनी मर्यादा छोड़ दे तो सब जला कर खाक कर दे। इस प्रकार पृथ्वी, पानी, अग्नि और हवा जैसी साधारण वस्तुएँ भी जब अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर देती हैं तो प्रलय जैसी भयंकर स्थिति पैदा हो जाती है ऐसी स्थिति में आप जरा विचार कीजिये कि मनुष्य यदि अपनी मनुष्यत्व की मर्यादा छोड़ दे तो फिर दुनिया में क्या नहीं होने लग जाय ?

आज का मानव मनुष्यत्व की मर्यादा छोड़कर दानव

बन गया है। एक के बाद एक होने वाले विश्व-युद्ध उसकी दानव वृत्ति के ही परिचायक हैं। दुनिया में आज जो अनेकों दुख व्याप्त हो गये हैं उनका मूल कारण क्या है? इसकी गहराई में अगर आप उतरेंगे तो आपको मालूम होगा कि मानव की पाशविक वृत्तियाँ ही इन सब दुखों की जननी हैं। आज आकृति से भले ही मनुष्य को मनुष्य कहा जाय, पर प्रकृति से वह पशु बना हुआ है। विज्ञान ने स्टीमर, मोटर, रेल और विमान पैदा कर मनुष्य को जलचर स्थलचर और खेचर तो बनाया ही, पर साथ में उसकी मनुष्यता भी छीन ली है।

प्रत्येक मनुष्य यदि स्थिर चित्त होकर अपना निरीक्षण करे तो उसे यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि उसके हृदय में पाशविक वृत्तियाँ ही अपना साम्राज्य जमाये हुए हैं। दैविक या मानुषिक वृत्ति तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होगी। एक मनुष्य जब विलासी वस्तुओं को तैयार कर उनके द्वारा धन शोषण करने की भावना करता है, तब क्या वह उस समय फूँक मारकर माँस खाने की मूषक वृत्ति का पोषण नहीं करता है? वह मनुष्य इस समय आकृति से भले ही मनुष्य हो, पर वृत्ति से तो चूहा (मूषक) ही कहा जायगा। संचय करने की वृत्ति जब मनुष्य के दिल में घर कर जाती है तब वह कीडी के भाव जैसा जीवन बिताता है। स्वार्थ सिद्धि के लिये या धनवानों और अधिकारियों को खुश करने के लिये जब मनुष्य उनकी खुशामद करने लग जाता है तब उस समय उसमें पैर चाटने की श्वानवृत्ति का उदय हो जाता है। जब मानव क्रोधित हो दाँत पीसने लगता है और एक से दूसरे विषय में अपने इन्द्रियों के घोड़े दौड़ाने लग जाता है, तब वह उस समय अपने में वानर वृत्ति को

# मर्यादा हीन मानव

पृथ्वी का गुण ( स्वभाव ) स्थिर रहना है। इसलिये उसे
अचला भी कहते हैं। पाँच मिनट के लिये भी यदि यह पृथ्वी
अपना स्वभाव छोड़कर अस्थिर बन जाय। तो सर्वत्र
प्रलयंकारी भूकंप हो जाय, लाखों की जन-माल की हानि हो
जाय और सब बने बनाये मकान ढह जायँ। हवा यदि
अपनी मर्यादा छोड़कर अमर्यादित गति से बहने लग जाय
तो भयंकर तूफान खड़ा हो जाय, दरिया में रहे हुए स्टीमर
उसी में समा जायँ, सैकड़ों साल पुराने पेड़ उखड़ कर नीचे
गिर जायँ, मकान दब जायँ और घर के छप्पर न जाने कहाँ
उड़ जायँ। सन् १९४८ में जब बम्बई में ऐसा तूफान आया
था तब आपको याद होगा कि उस समय तीन दिन तक वहाँ
का सब व्यवहार बंद हो गया था। नदी का पानी दो
किनारों में ही बहता है; परन्तु वही पानी जब अपनी मर्यादा
छोड़कर बहने लग जाता है तो प्रलय मचा देता है और
गाँव के गाँव उजाड़ देता है। और यदि अग्नि अपनी मर्यादा
छोड़ दे तो सब जला कर खाक कर दे। इस प्रकार पृथ्वी,
पानी, अग्नि और हवा जैसी साधारण वस्तुएँ भी जब अपनी
मर्यादा का अतिक्रमण कर देती हैं तो प्रलय जैसी भयंकर
स्थिति पैदा हो जाती है ऐसी स्थिति में आप जरा विचार
कीजिये कि मनुष्य यदि अपनी मनुष्यत्व की मर्यादा छोड़
दे तो फिर दुनिया में क्या नहीं होने लग जाय?

आज का मानव मनुष्यत्व की मर्यादा छोड़कर दान

बन गया है। एक के बाद एक होने वाले विश्व-युद्ध उसकी दानव वृत्ति के ही परिचायक हैं। दुनिया में आज जो अनेकों दुख व्याप्त हो गये हैं उनका मूल कारण क्या है? इसकी गहराई में अगर आप उतरेंगे तो आपको मालूम होगा कि मानव की पाशविक वृत्तियाँ ही इन सब दुखों की जननी हैं। आज आकृति से भले ही मनुष्य को मनुष्य कहा जाय, पर प्रकृति से वह पशु बना हुआ है। विज्ञान ने स्टीमर, मोटर, रेल और विमान पैदा कर मनुष्य को जलचर स्थलचर और खेचर तो बनाया ही, पर साथ में उसकी मनुष्यता भी छीन ली है।

प्रत्येक मनुष्य यदि स्थिर चित्त होकर अपना निरीक्षण करे तो उसे यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि उसके हृदय में पाशविक वृत्तियाँ ही अपना साम्राज्य जमाये हुए हैं। दैविक या मानुषिक वृत्ति तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होगी। एक मनुष्य जब विलासी वस्तुओं को तैयार कर उनके द्वारा धन शोषण करने की भावना करता है, तब क्या वह उस समय फूँक मारकर माँस खाने की मूषक वृत्ति का पोषण नहीं करता है? वह मनुष्य इस समय आकृति से भले ही मनुष्य हो, पर वृत्ति से तो चूहा (मूषक) ही कहा जायगा। संचय करने की वृत्ति जब मनुष्य के दिल में घर कर जाती है तब वह कीडी के भाव जैसा जीवन बिताता है। स्वार्थ सिद्धि के लिये या धनवानों और अधिकारियों को खुश करने के लिये जब मनुष्य उनकी खुशामद करने लग जाता है तब उस समय उसमें पैर चाटने की श्वानवृत्ति का उदय हो जाता है। जब मानव क्रोधित हो दाँत पीसने लगता है और एक से दूसरे विषय में अपने इन्द्रियों के घोड़े दौड़ाने लग जाता है, तब वह उस समय अपने में वानर वृत्ति को

पोषण करने लग जाता है। क्रूर वन, जब वह दूसरे पर रोष करने लगता है तब उसमें शेर-चीते की वृत्ति प्रबल हो उठती है। छल-प्रपंच द्वारा जब वह दूसरों को ठगने की इच्छा रखता है, तब उस समय उसमें शृगाल वृत्ति का असर आ जाता है। दूसरों के गुणों को न देखकर उनके दोषों पर नजर डालना तो स्वस्थ शरीर को छोड़कर फोड़े फुन्सियों पर बैठने जैसी मक्षिका वृत्ति ही है। उपर्युक्त सभी वृत्तियाँ हर एक मनुष्य के मन में पैदा होती रहती हैं। जब तक वह इन वृत्तियों का नाश नहीं कर लेता, तब तक वह मनुष्य होते हुए भी पशु ही बना रहता है। भलमनसाही, मानवता और सच्चाई के बिना मानव पशु है। जब ये भाव उसमें जागृत होते हैं तभी वह सचमुच मानव कहलाने का हकदार होता है। अब तनिक आप विचार कीजिये कि ऐसे क्षण हम अपनी जिन्दगी में कितने बिता रहे हैं? ये क्षण ही हमारा मानव जीवन है। शेष समय तो पशु जीवन में ही व्यतीत हो रहा है। इस संबंध में पुराणों में एक मनोरंजक कथा कही गई है। उसमें कहा गया है कि—स्वर्ग में भी परमात्मा की एक पाठशाला चलती थी, जिसमें इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वायु, वरुण, कुबेर, ब्रह्मा आदि तैंतीस कोटि देवता पढ़ते थे। सबका कार्य बड़ा व्यवस्थित रहता था अतः उनके छात्रालय में किसी व्यवस्थापक की आवश्यकता महसूस नहीं होती थी। उनको किसी भी दिन छुट्टी नहीं होती थी। एक दिन सभी देवताओं ने मिलकर परमात्मा से कहा कि एक सप्ताह में एक छुट्टी तो हमको अवश्य मिलनी चाहिये। परमात्मा देवताओं पर प्रसन्न थे। उन्होंने कहा—मैं तुमको हर सप्ताह तो एक छुट्टी नहीं दूँगा, पर मैं आज तुमको यह पहली छुट्टी दे रहा हूँ। लेकिन याद रखना, एक भी विद्यार्थी इसका

दुरुपयोग करेगा तो भविष्य में किसी भी दिन तुम्हें छुट्टी नहीं मिल सकेगी। देवों ने यह बात स्वीकार कर ली और उस दिन देवशाला में पहली छुट्टी कर दी गई। सब देवता इधर उधर घूमने निकल गये, पर ब्रह्मा को कहीं भी जाना नहीं रुचा। वह अपने कमरे में ही बैठे रहे। खाली मन शैतान का घर होता है। ब्रह्मा ने कागज पेन्सिल उठाई और चित्र बनाना शुरू किया। सबसे पहले उन्होंने पृथ्वी, पानी, आकाश आदि पंच भूत बनाये और फिर पशु, पक्षी, मछली आदि भूचर, खेचर, और जलचर प्राणियों का निर्माण किया सबसे अन्त में उन्होंने मनुष्य की आकृति बनाई। सब प्राणियों के शरीर में प्राण भर दिये, केवल सिर में बुद्धि डालने का काम बाकी रहा था, पर इतने में तो रात हो गई। भोजन करने का घंटा बज चुका था, पर ब्रह्मा का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। अधूरा काम पूरा किये बिना भोजन नहीं करने का उन्होंने संकल्प किया और अपना काम उसी तरह चालू रखा। मनुष्य के सिवाय अन्य सभी प्राणियों में बुद्धि भरदी गई, पर मनुष्य के सिर में बुद्धि भरने का काम अब भी बाकी रह गया था। देवशाला का नियम था कि कोई भी दस बजे बाद अपना दीपक जला हुआ न रखें। अब समय बहुत थोड़ा था और काम ज्यादा तथा महत्वपूर्ण रह गया था। अतः शीघ्रता में किसी के सिर में ड्योढ़ी तो किसी के सिर में दुगुनी बुद्धि पूर दी गई (भरी गई)। आखिरकार तो समय पूरा हुआ और बुद्धि भी शेष न रही। इससे कई मनुष्य तो बेचारे बुद्धि बिना ही रह गये।

दूसरे दिन परमात्मा ने सबकी हाजिरी ली और कल क्या क्या किया. पूछा। सबने बारी बारी से खड़े होकर

अपना काम कह सुनाया। अन्त में जब ब्रह्मा का नम्बर आया तो उन्होंने भी कल जो किया था सब कह सुनाया। जिसे सुन कर परमात्मा बड़े नाराज हुए और बोले—'तुमने यह बहुत बुरा काम किया है। तुमने सारी सृष्टि तो बनाई, पर उसमें कम अक्ल के प्राणी ही अधिक बना दिये हैं। इससे उनके बीच में लड़ाई झगड़े होते रहेंगे और अपनी शांति का भी भंग होता रहेगा।' यह सुन कर ब्रह्मा निराश हो गये और उन्होंने वे सभी चित्र हवा में फैंक दिये। कहते हैं, वही यह हमारी सृष्टि है। लेकिन फिर सृष्टि में क्या हुआ? सभी पशु मानव को त्रास देने लगे। लेकिन मनुष्यों पर वे अपना जोर नहीं जमा सके। मनुष्यों ने उन्हें अपने बुद्धि बल से परास्त कर दिया और उनमें से कइयों को गाय, बैल, घोड़ा, गधा, कुत्ता आदि को मनुष्य का गुलाम हो जाना पड़ा। मनुष्य की गुलामी से मुक्त होने के लिये उन्होंने परमात्मा की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना सुन कर करुणामय प्रभु पृथ्वी पर प्रकट हुए। पशुओं ने कहा भगवन्! 'हम पराधीन हैं, मनुष्यों ने हमें गुलाम बना रखा है। हमें भी स्वतंत्र होने के लिये अधिक अक्ल दीजिये और दुख मुक्त कीजिये।' परमात्मा ने लाचार होकर कहा—'प्यारो, अक्ल तो अब शेष नहीं रही है; पर यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हें मनुष्य का रूप दे सकता हूँ।' यह बात सुनते ही पशुओं में वाद-विवाद शुरू हो गया। कुछ तो इसके लिये राजी हो गये, पर कुछ को यह बात न रुची। फलस्वरूप उनमें दो पार्टियाँ हो गई। जो राजी न हुए थे वे पशु ही बने रहे और जो राजी हो गये थे वे मनुष्य की आकृति पाकर मनुष्यों में हिलमिल गये फलतः वे सभी गाय—मानव, घोड़ा—मानव, पंछी—मानव मत्स्य—मानव, श्वान—मानव आदि सभी अन्दर ही अन्दर

एक दूसरे से लड़ने-झगड़ने लग गये। उनकी यह लड़ाई आज भी बदस्तूर चालू है। कहीं कम तो कहीं ज्यादा, लेकिन उनकी पशु वृत्ति का आज भी दुनिया में सर्वत्र बोल बाला है। ये पशु-मानव जब अपनी पशु वृत्ति छोड़ें और मानवता धारण करें तो ये सब झगड़े खत्म हो जायँ और निश्चय ही पृथ्वी पर स्वर्ग उतर जाय !!

गत वर्ष के अन्त में जब बम्बई पर प्रकृति का कोप हुआ और भयंकर आँधी आई, तब मनुष्य भी चुप बैठा न रहा और उसने भी इन्सान को लूटने में कोई कसर न रखी। दुख के समय में भी दूसरों का मददगार होने के बदले मानव कितना नीच और हल्का हो जाता है यह आप उस समय के उदाहरण से भलीभाँति जान सकेंगे। एक या दो पैसे की मोमबत्ती के दाम एक से दो रुपया, चार आने की घासलेट की एक बोतल के आठ से दस रुपये, पाँच रुपये की एक लालटेन की कीमत बीस से पचीस रुपये, इस तरह सभी चीजों के भाव ऐसे बेहद बढ़ा दिये गये थे कि मानों यही समय लूटने का आया हो ? मुसीबत के समय में मनुष्य को मनुष्य की सहायता करनी चाहिये या उसकी मुसीबत से लाभ उठाकर अपनी स्वार्थ साधना करनी चाहिये ? ऐसी स्वार्थ साधना हैवानियत नहीं तो और क्या है ? सन् १९४३ में बंगाल की भूखमरी के समय भारत के व्यापारियों ने क्या किया था ? एक तरफ सड़क पर पेट और पीठ मिला कर अनेकों भिखमंगों की कतार लगी हुई थी और दूसरी तरफ व्यापारियों के अन्न के कोठार भरे पड़े थे। मनुष्य ने मानवता की मर्यादा किस हद तक छोड़ दी है, इसके ऐसे अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

मनुष्य को अपनी मर्यादा का पालन करने के लिये बुद्ध देव ने दस धार्मिक चर्याओं का पालन और दस अधार्मिक चर्याओं का त्याग करना बतलाया है। मन से तीन तरह, वचन से चार तरह और काया से तीन तरह यों कुल दस तरह से अधर्माचरण होता है। जिसका त्याग मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। पर द्रव्य का लोभ, दूसरे के नाश की इच्छा और नास्तिक दृष्टि यानी कल्याणकारी अहिंसादि मंगल तत्वों पर अश्रद्धा रखना ये मानसिक अधर्म है। असत्य बोलना, अपशब्द बोलना, चुगली खाना, और निष्काम बोलना ये वाणी का अधर्माचरण है। प्राणिघात, चोरी और अब्रह्मचर्य ये काया के अधर्म हैं। इन दस अधर्माचरण को छोड़ कर धर्माचरण में आना ही मनुष्य का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

आज की दुनिया में जब हम मानव समाज का निरीक्षण करते हैं तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाता है कि ये दस पाप ही सर्वत्र फैले हुए हैं। दूसरे के धन की इच्छा रखना यह पहला मानसिक पाप है। आज प्रत्येक व्यक्ति परिश्रम किये बिना ही धनवान होने की इच्छा करता है। वह धन दूसरे के हक का नहीं तो और कहाँ से आने वाला है? आज एक मनुष्य जब किसी दूसरे मनुष्य को देखता है तो उससे कुछ फायदा उठाने की वृत्ति उसके दिल में जागृत हो उठती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगल जाने की इच्छा करता है। बन सके वहाँ तक अपने व्यापार द्वारा दूसरे देशों का शोषण करना और उन पर अपना आधिपत्य जमाना ही युद्धों का ध्येय होता है। इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति के बीच और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में संघर्षण का कारण पर धन हरण की भावना ही होती है।

दूसरों के नाश की इच्छा रखना यह दूसरा मानसिक अधर्माचरण है। हम देखते हैं कि आज एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सुख-वैभव नहीं देख सकता है। और तो क्या वह अपने सहोदर भाई का सुख भी नहीं देख सकता है। अपने ही भाई की दुकान पर यदि चार ग्राहक अधिक आते होंगे तो उनको रोकने का प्रयास करने वाले भाई भी हमारे यहाँ आज मिल जायँगे। यह बात तो व्यक्तिगत हुई, पर राष्ट्रों की भी यही हालत है। दूसरे राष्ट्रों को गुलाम बना कर अणु बम द्वारा अपनी भौतिक आकांक्षाओं को तृप्त करना भी पर विनाश रूप अधर्माचरण ही है। नास्तिक दृष्टि होना यह तीसरा अधर्माचरण है। आप यह समझते होंगे कि हम उपाश्रय में आकर रोज व्याख्यान श्रवण करते हैं, इससे हम आस्तिक हैं। लेकिन आपका ऐसा समझना ठीक नहीं है। क्योंकि उपाश्रय में आने वाले भाई-बहिनों को भी यदि भगवान् द्वारा बताये गये अहिंसा संयम और तप रूप धर्म पर तथा सत्यादि सिद्धान्तों पर श्रद्धा न हो तो वे आस्तिक कैसे कहे जा सकते हैं? अगर निष्पक्ष दृष्टि से अपने आचरण को देखेंगे तो हमको यह मंजूर करना पड़ेगा कि आज जो श्रद्धा हमारी धन में है, वह कर्म में नहीं है। धन से हम सुखी बनेंगे ऐसी दृढ़ मान्यता के वशीभूत होकर ही मानव दिन और रात धन इकट्ठा करने का प्रयास करता है। धन के खातिर वह सत्य अहिंसादि परम प्रिय सिद्धान्तों का भी त्याग कर देता है। तब फिर कहिये ऐसे मनुष्य यदि रोज-रोज उपाश्रय में भी आते हों तो क्या वे आस्तिक कहे जा सकते हैं? दूसरी तरफ एक ऐसा मनुष्य है जो संयोगवश धर्मस्थान में नहीं आ सकता हो और न व्रत-तप जप ही कर सकता हो, लेकिन फिर भी सत्यादि में उसकी दृढ़ श्रद्धा हो, लाखों

का नुकसान होने पर भी झूठ नहीं बोलता हो तो आप उसे क्या कहेंगे? उपाश्रय में न आने पर भी उसकी सत्य-श्रद्धा उसे आस्तिक ही बनाये रखेगी और वह आस्तिक ही कहा जायगा।

असत्य, अपशब्द, निष्कारण बोलना और चुगली खाना ये चार वाणी के अधर्माचरण हैं। बिना हिंसा किये कोई मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है, यह बात कही जा सकती है, परन्तु असत्य बिना जीवित नहीं रहा जा सकता है, यह कोई नहीं कह सकता है। अहिंसा में अपवाद हो सकता है, पर सत्य में तो उसकी गुंजाइश ही नहीं है। सत्य का पालन तो निरपवाद रूप में ही होना चाहिये। अपशब्द कहना या असत्य भाषण करना खानदानी पुरुष के मुँह से शोभा नहीं देता है। वाणी वह कसौटी है जिसके द्वारा मनुष्य की खानदानी का पता लगाया जा सकता है। निष्कारण बोलना भी असत्याचरण के समान ही हानिकर होता है। उपनिषदों में कहा है कि 'वचनपातो वीर्यपातात् गरीयसि।' विज्ञान भी यह मानता है कि बोलने में अधिक शक्ति का ह्रास होता है। चुगली खाना भी एक भयंकर पाप है, जिससे कई घर बर्बाद हो जाते हैं। अतः इन वाणी के अधर्माचरण से मनुष्य को दूर रहना चाहिये।

प्राणिघात यह कायिक अधर्माचरण है। हिंसा से मनुष्य को स्वभावतः ही घृणा है। जो मनुष्य इसके आदी हो गये हैं उनकी बात तो जाने दीजिये, पर एक छोटे से बच्चे को भी अगर आप एक कीड़ी को दबा देने (मार डालने) के लिये कहेंगे तो वह अपना मुँह मोड़ लेगा। अहिंसक एक लाख रुपया लेकर भी किसी की घात करना न चाहेगा। इस प्रकार

आप में हिंसा के प्रति स्वभाव से ही घृणा रही हुई है। प्रत्यक्ष में तो आप हिंसा से इतनी घृणा प्रदर्शित करते हैं, पर परोक्ष में आप उसी भयंकर हिंसा के भागीदार बनते जा रहे हैं। यह कैसी विचित्र बात है? हिंसा चाहे प्रत्यक्ष में हो या परोक्ष में, आप उसके भागीदार तो रहेंगे ही। आप मील के वस्त्र पहन कर प्रत्यक्ष में तो हिंसा नहीं करते हैं, पर परोक्ष में छः काय के जीवों की हिंसा के भागीदार बनते हैं। आप में से कई एक हिंसक चमड़े की जो फैशनेबल वस्तुओं का उपयोग करते हैं, पर उनके पीछे कितना महारंभ रहा हुआ है, क्या इसका भी आपने विचार किया है? ता० १४-११-४८ के हरिजन में एक बार इस विषय पर लिखा गया था कि कोमल चमड़े की वस्तुओं के लिये गर्भवती गायों का कत्ल किया जाता है और फिर उनके गर्भस्थ बछड़ों का चमड़ा निकाल कर ये वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इस व्यापार में नफा बहुत होता है। दिल्ली में कई व्यापारी ऐसे चमड़े का व्यापार करते हैं। और बहुत नफा कमाते हैं। तनिक विचार तो कीजिये कि इसमें कितनी घोर हिंसा होती है? क्या ऐसी वस्तुओं को उपयोग में लाने वाले व्यक्ति भी कभी अपने को अहिंसा धर्मी होने का दावा कर सकते हैं?

कई एक मनुष्य यह दलील करते हैं कि हम तो बनी बनाई चीजें मोल लेते हैं। इसमें हम हिंसा के भागीदार कहाँ बनते हैं? बौद्ध धर्मी माँस खाते हैं, पर कहते हैं हम पशुओं को मारते नहीं हैं, तैयार माँस लाते हैं और खाते हैं। ऊपर की दलील भी इसी तरह की है। दोनों दलीलों में कोई तथ्य नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि आपके द्वारा प्रत्यक्ष में प्राणि-घात न करने पर भी ऐसी हिंसा वस्तुओं के उपयोग में हिंसा रही हुई है, जिसका भागीदार उसका उपयोग करने वाला

भी अवश्य बनता है। ये वस्तुएँ जो बनाई जाती हैं, वे किसके लिये बनाई जाती हैं? खरीदने वाले या उपयोग में लेने वाले के लिये ही तो बनाई जाती हैं। तब फिर विचार कीजिये कि यदि खरीदने वाला न हो तो क्या ये बनाई जा सकेंगी? कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अपना उत्पादन फेंकने के लिये करेगा? अतः यह तो स्पष्ट है जितने परिमाण में जिस वस्तु की खरीद या माँग कम होगी उतने ही परिमाण में उस हिंसक वस्तु की उत्पत्ति भी कम होगी। मेरी ये दयावान् बहिनें, जो एक कीड़ी को मरते देखकर भी थरथर काँप उठती हैं, वे ही बहिनें उस रेशम को, जो लाखों कीड़ों को गरम पानी में उबाल कर तैयार किया जाता है, पहिनने में क्यों नहीं हिचकिचाती हैं? उस समय उनके हृदय में क्यों कुछ विचार नहीं आता? आप क्यों नहीं अपने विवेक से काम लेते हैं? सारांश यही है कि आपको इस प्रकार की हिंसक या महारंभी वस्तुओं का उपयोग न कर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्राणिघात से निवृत्त होना चाहिये।

चोरी यह दूसरा कायिक अधर्माचरण है। बन्धुओ! आप सब तो साहूकार हैं न? आज समाज में साहूकार कौन है? जरा अपने-अपने दिल पर हाथ रख कर तो पूछिये? मैं अपने मुँह से क्या कहूँ? जब किसी ऐसे विरले साहूकार को, जिसने व्यापार धन्धा करते हुए भी कभी एक पाई तक का काला बाजार न किया हो, देखते हैं तो हृदय में गहरा सन्तोप होता है। लेकिन ऐसे साहूकार कितने मिलते हैं? आप सब साहूकार तो कहे जाते हैं, पर दरअसल में हैं क्या? यह तो आप स्वयं ही अपने दिल में विचार कर जान सकते हैं। आज हर एक धन्धा चोरी का हो गया है। उसमें से निवृत्त हुए बिना दूसरा कोई शुद्धि का मार्ग नहीं है।

तीसरा कायिक अधर्माचरण है—सदाचार का भंग। आज आपको अपनी शिक्षा से और वातावरण से सदाचार के बजाय स्वच्छन्दता से ही आज प्रजा तेज हीन और निर्बल बन गई है। आयुष्य बल भी उसका क्षीण हो गया है। वीर्य हीन प्रजा से कोई काम नहीं हो सकता है अतः सदाचार का जीवन में अवश्य पालन करना चाहिये।

इस प्रकार यदि मनुष्य इन दस अधार्मिक चर्याओं से मुक्त होकर इनकी प्रतिपक्षी १० धार्मिक चर्याओं का पालन करने लग जायगा तो वह पशु और पिशाच बनने से बच जायगा। धर्म की मर्यादा छोड़ने से वह आज जिस प्रलय का आह्वान कर रहा है उसमें से भी बच जायगा और वह सच्चा इन्सान बनकर पृथ्वी पर स्वर्ग उतार देगा।
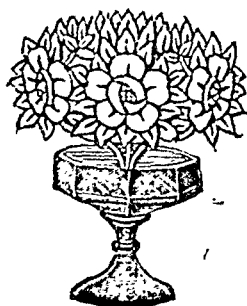
# व्यवहार शुद्धि

यदि कोई मनुष्य एक होशियार चित्रकार को बुलावे और सुन्दर-सुन्दर रंग तथा पींछी देकर पानी से भरे हुए एक बड़े बर्तन में उसे चित्र बनाने को कहे तो क्या यह उसकी मूर्खता नहीं कही जायगी ? पानी में चित्र बनाने के लिये चाहे जितना प्रयास क्यों नहीं किया जाय, पर जैसे सफलता दूर ही रहेगी, वैसे ही नैतिक जीवन की शुद्धि बिना, चाहे जितने व्रत, तप, वाचन, मनन किये जायँ, सफलता प्राप्त नहीं हो सकेगी। बोरी बन्दर के स्टेशन पर या चलती ट्राम में चढ़ कर जेब काटने वाला यदि यहाँ (उपाश्रय में) आकर मुँह पर मुहपत्ति वाँधे और सामायिक करे, अथवा कोई अट्ठम का तप करे और जेब कतरने का काम चालू रखे तो यह व्रत और तप उसको कितना शोभे ? इसी प्रकार जो सीधी तरह जेब न कतरतें हों पर दूसरी तरह काले बाजार कर प्रजा का शोषण करते हों तो उनको भी व्रत तपादि करने का कितना अधिकार है ? इसका आप स्वयं ही विचार कर लीजियेगा।

हम उत्तर व्रतों का तो पालन करने का प्रयास करते हैं, पर मूल व्रतों के प्रति बिल्कुल उदासीन हो जाते हैं। हम सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, और छोटे बड़े अन्य प्रत्याख्यानादि तो करते हैं, पर सत्य, अचौर्य, या अपरिग्रह जैसे मूल व्रतों की तरफ तनिक भी लक्ष्य नहीं देते हैं। ऐसी स्थिति में उत्तर व्रत भी कहाँ तक सार्थक हो सकेंगे ! यह भी विचारने

जैसी बात है ? वृक्ष के मूल में दियासलाई लगा दे और फिर पत्ते-पत्ते को पानी पिलाकर वृक्ष को संजीवन रखने का प्रयास करे तो जैसे निष्फल होता है, उसी प्रकार मूल व्रतों की तरफ़ लक्ष्य दिये बिना केवल उत्तर व्रतों के सींचन से भी धर्मवृक्ष की यही स्थिति होती है।

आज ग्यारह लाख जैनों में ग्यारह जैन भी ऐसे प्रामाणिक मिल सकेंगे, जो कि कभी झूठ न बोलते हों; चोरी न करते हों, यानी काला बाजार न करते हों ? लोग समझते हैं कि झूठ बोले बिना काम चलता नहीं है, परन्तु वास्तविक हकीक़त यह है कि सत्य के बिना नहीं चलता। एक दिन कोई ऐसा निश्चय करे कि मुझे आज सत्य नहीं बोलना है तो कल्पना कीजिये कि इससे उसका व्यवहार कितना मुश्किल हो जायगा ? इससे सिद्ध होता है कि असत्य के बिना नहीं पर सत्य के बिना मनुष्य की गाड़ी नहीं चल सकती है।

अपने बिना हक की कोई भी वस्तु लेना अदत्ता दान-चोरी है। हिसाब से अपने हक में जितना कपड़ा, नाज या शक्कर आती हो उससे तनिक भी अधिक लेना चोरी है, आज इस चोरी से कोई विरला ही बचा होगा। सीधी तरह चोरी न करने पर भी तीसरे व्रत के अतिचारों से, उनके सेवन से कौन भाग्यवान बच सका होगा ?

'सोनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रम हीनाधिक मनोन्मान प्रतिरूपक व्यवहारा:' ये तीसरे व्रत के पाँच अतिचार हैं। स्रोत प्रयोग का पूरा अर्थ किसी को चोरी करने के लिये स्वयं प्रेरणा देना या दूसरों के द्वारा दिलाना अथवा उसके कार्य में सम्मत होना है। काला बाजार का अनाज लेकर किसी ने जीमनवार किया हो तो उसमें जीमना भी चोरी में सम्मत होना कहा जायगा। कई एक मनुष्य

पराधीनतावश ऐसी चोरी करते हैं। कई एक अपने घरों पर लग्नादि प्रसंगों में अज्ञान मानवों की वाहवाही लेने के खातिर ब्लेक मार्केट कर जीमनवार करते हैं। जीवन निर्वाह के लिए तो मिल जाता है, परन्तु फिर भी ऐसे अनेकों बेकार कामों के लिए मनुष्य अपना नैतिक पतन कर लेता है। चोरी की वस्तु लेना यह दूसरा अतिचार है। राजा ने प्रजा-हित के लिए जो कायदे बनाये हों उनका भंग करना यह विरुद्ध राज्यातिक्रम का तीसरा अतिचार है। यदि आज इस अतिचार में से प्रजा मुक्त बने तो सरकार का काम कितना सरल हो जाय? कम-ज्यादा तौल कर देना-लेना यह हीनाधिक मानोन्मान नामक चौथा अतिचार है। पाँचवाँ अतिचार है 'प्रतिरूपक व्यवहार'—वस्तु में मिलावट करना और नकली को असली करना इसका अर्थ है। आज किसी भी रोजगार-धन्धे में देखोगे तो यह वस्तु बहुत फैली हुई ज्ञात होगी। घी के व्यापारी वनस्पति का घी मिलाकर असली घी के नाम से बेचते हैं। दूध में पानी मिलाना तो हँसी खेल हो गया है। कुछ दिनों पूर्व हरिजन में श्री किशोर-लाल मश्रुवाला ने लिखा था कि तेल में शुद्ध किया हुआ विना गन्ध का घासलेट भी व्यापारी मिलाने (डालने) लग गये हैं। अनैतिकता की भी तो हद हो गई है? जहर भी दूध के रूप में दिया जाने लग गया है!! शक्कर में आटा और कपड़ा धोने के सोडे में चूना मिला कर खुले आम बेचा जाता है। मील वाले भी बुनाई में ताना बाना कम कर देते हैं। रुई वाले पानी छाँटते हैं और ऊन वाले राख लगाते हैं। जीरा और अजमायन पर भी उसके रंग की मिट्टी लगाई जाती है। गेहूँ, ज्वार, और चने में तो उनके रंग के छोटे-छोटे कंकर मिलाने के लिये स्वतन्त्र रूप से इसका व्यापार किया जाता

है। कंकरों के भी गेहूँ की तरह कोठार भरे जाते हैं। व्यापारी के पतन की भी कोई सीमा है? एक डाक्टर के पास से यह भी सुना कि आजकल दवा के व्यापारी 'शिवाजौल' की गोलियों के वजाय चाक की गोलियाँ वनाकर वेचने लग गये हैं। वीमार मनुष्य को देने की चीज में भी ऐसी वनावट? दया धर्म की पुकार करने वाले हिन्दुओं से भी क्या ऐसा हो सकता है!!

वाल पोथी पढ़े विना यदि कोई एम० ए० की कितावें लेकर पढ़ने वैठे तो वह अपने इस (एम० ए० के) कोर्स में कहाँ तक सफल होगा? यह आप भली भाँति समझ सकते हैं। सामायिक प्रतिक्रमण जैसी उच्च और तेजस्वी क्रियायें भी हमारे जीवन को उच्च या तेजस्वी नहीं वना सकती हैं तो इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे जीवन का सत्य और अचौर्य का नैतिक पाया विल्कुल कमजोर है।

रवीन्द्रनाथ टैगौर जव चीन और जापान की यात्रा करने गये थे, तव वहाँ की जनता ने उनसे पूछा था कि भारत जैसी धर्म भूमि में रहने वाले तो वड़े भाग्यशाली होंगे? वहाँ कोई झूठ नहीं वोलता होगा, अपने हक से अधिक दूसरी चीज नहीं लेता होगा, और न कोई किसी को सताता ही होगा। अहा! कितना पवित्र आपका मुल्क होगा? यह सुन कर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ की आँखों में से दुख के आँसू टपक पड़े थे। उन्होंने वहाँ की जनता से कहा था जैसा तुम सोचते हो वैसा आज भारत में नहीं है। वहाँ तो आज के सभी दोष व्यापक वने हुए हैं। आज समस्त संसार, जहाँ हिन्द से नैतिक आदर्श की आशा रखता है, वहाँ हमारी स्थिति कितनी विषम वनी हुई है? यह वस्तुतः दुख और लज्जाजनक वात है। मनुष्यों के जीवन में से प्रामाणिकता

की पूँजी दिन प्रति दिन कम होती जा रही है। लांच-रिश्वत न ली जाय इसके लिये सरकार ने एक नया खात (विभाग) खोला है। परन्तु कहीं यह विभाग भी रिश्व न लेने लग जाय इसके लिए भी सरकार को अलग आदमी रखने पड़े हैं। ऐसी स्थिति में प्रजा कैसे और कहाँ तव जी सकेगी ?

कपड़े का कन्ट्रोल जब बीच में उठ गया था तब कपड़े वे व्यापारियों और मील मालिकों ने क्या किया था ? यह आ सब अच्छी तरह जानते हैं। उस समय 'संस्कृति' के सम्पाद ने इनका उपहास्य करते हुए लिखा था कि अहमदावाद मील मालिकों के हाथ काले बाज़ार से इतने अधिक का हो गये हैं कि यदि वे उन्हें साबरमती में धोवें तो साबरमती का पानी भी काला हो जाय।' इस उपहास्य में अतिशयोक्ति होना संभव है, पर हकीकत जो बनी उसमें सचाई अवश्य है।

आप चाहे जिस क्षेत्र में गहरे उतरिये, सर्वत्र अप्रमाणिकता गहरी घुसी हुई नज़र आयगी। रेलवे विभाग में जरा गहरे उतरोगे तो छोटे से लगा कर बड़े तक हर एक मनुष्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार लांच—रिशवत खाते हुए दिखाई देंगे। रेलवे के आदमी पारसलों को तोड़-फोड़ कर प्रायः आधी चीजें ही मालिक तक पहुँचाते हैं। कई बार तो सारे पारसल ही गायब कर दिये जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को एक भाई ने 'रेल के चूहे' कहा है। मेवा, फ्रूट, या मिठाई के पारसल देखते हैं तो वे उन्हें तोड़-फोड़ कर चट कर जाते हैं। एक बार एक पारसल में से मिठाई खा लेने के बाद एक भंगी ने आकर कहा कि यह पारसल तो मेरा था। इस पर उससे पूछा गया कि इतनी बढ़िया मिठाई तेरे पास कहाँ से आई ? तब उसने बताया कि मेरा एक सम्बन्धी अमुक शहर

में जिस सेठ के यहाँ नौकरी करता है उसके यहाँ अभी वहुत वड़ा जीमनवार किया गया था। उसमें जो जूठन वचा था वह इस पारसल द्वारा मुझे भेजा गया था। यह सुनकर वेचारे 'रेल के चूहे' थू थू कर मुँह विगाड़ने लगे, पर फिर भी उनकी यह आदत मिटी या नहीं? यह तो भगवान् ही जानते हैं।

धर्म के लिये नहीं, पर व्यापार के लिये भी अगर प्रामाणिकता स्वीकार की जाय तो यह भी कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है। पश्चिम के व्यापारियों ने व्यापार में प्रामाणिकता को स्थान दिया है इसीलिये उनका व्यापार भी प्रतिष्ठित माना जाता है। उन्होंने इस नीति को स्वीकार ही नहीं की है, पर आपस में भी रखी है। अमेरिका से आने वाले एक भाई ने वताया है कि वहाँ हिन्द की तरह गली-गली में अखवार वेचने वाले आंटा (आवाज) नहीं मारते फिरते हैं। वहाँ तो अखवारों की छोटी-छोटी गाड़ियाँ गली के नाकों पर रख दी जाती है। उनका मालिक जो होता है वह उसे छोड़ कर अपने दूसरे काम पर चला जाता है। अखवार लेने वाले उसमें से अखवार ले लेते हैं और कैश वोक्स (Cash Box) में पैसे डाल कर चल देते हैं। अगर अपने यहाँ भी इस तरह किया जाय तो विचारिये क्या होगा? पैसा मिलना तो दूर रहा पर गाड़ी का भी पता नहीं चलेगा।

अमेरिका में विजली का वहुत उपयोग किया जाता है। परन्तु कहा जाता है कि वहाँ के इलेक्ट्रिक पावर हाऊस वाले मीटर तपासने के लिये एक भी आदमी नहीं रखते हैं। हर एक मनुष्य अपना मीटर देख कर व्याजवी विल प्रत्येक महीने भर देता है। आपके यहाँ भी ऐसी प्रामाणिकता प्रतिष्ठित हो जाय ऐसा आप सव को प्रयत्न करना चाहिये।

हमारे देश में भी ऐसी प्रामाणिकता के वीज तो पड़े

हुए हैं, पर वे सर्वत्र व्यापक नहीं हैं, अतः व्यापक होने चाहिये। २० वर्ष पूर्व कई रूई के व्यापारी रूई में पानी छाँट कर गाँठें बाहर भेजते थे, जिससे वजन बढ़ जाता था और पैसे भी अधिक मिलते थे। परन्तु कुछ दिनों में माल खराब हो जाता था। इससे विदेशी व्यापारी सतर्क हो गये और हिन्द की रूई को क्वालिटी के हिसाब से कम कीमत में लेने लगे। इससे रूई के भाव बहुत कम हो गये। पानी वाली या बिना पानी की दोनों तरह की रूई एक ही भाव में बिकने लगी। इससे गरीब किसानों को बहुत हानि उठानी पड़ती थी। बाहर भेजने वाले व्यापारी को भी बिना पानी की रूई भेजना महँगा पड़ता था। उस समय सेठ जमनालालजी बजाज के मुनीमों ने रूई में पानी छाँटने की उनसे आज्ञा माँगी। सेठजी ने कहा—ऐसी धोखाबाजी हमारे से न होगी।' मुनीमों ने कहा कि पानी डाले बिना ठीक कीमत नहीं मिलेगी तो फिर व्यापार कैसे चलेगा? अन्त में बजाजजी ने कहा कि पानी ही छाँटना हो तो पानी वाली गाँठों पर (w) का मार्का लगा दो और पानी बिना की गाँठों को यों ही बिना मार्का के ही भेज दो। किसी को धोखे में रख कर काम करना ठीक नहीं है।' मुनीमों को इससे आश्चर्य हुआ कि जान-बूझ कर कौन पानी का माल लेना चाहेगा? लेकिन सेठजी ने मार्का लगाया और दोनों तरह का माल बाहर भेज दिया। व्यापारी एशोसियेशन और विदेशी व्यापारियों को भी इस बात की सूचना भिजवा दी गई थी अतः इस नई बात से बाजार में बड़ी उथल-पुथल मच गई।

कइयों ने सेठ जी से कहा भी कि ऐसा करने से नुकसान होगा, पर सेठजी अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। शुरूआत में बेचने में कुछ कठिनाई जरूर पड़ी, परन्तु जब खरीदने वालों

को इस बात का पता चला तो वे बिना पानी का माल ऊँची कीमत में ख़रीदने लग गये। सेठजी की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा बढ़ी और व्यापार भी अच्छा चलने लग गया। फिर तो उन्होंने काफी पैसा भी कमाया। इस तरह यदि मनुष्य कुछ धीरज से काम ले तो प्रामाणिकता से धर्म भी रह जाता है और धन भी प्राप्त हो जाता है। आप में पड़े हुए इन प्रामाणिकता के बीजों को अब अधिक विकसित करना चाहिये।

इन सभी अनर्थों के मूल में संग्रह वृत्ति रही हुई है। संग्रह वृत्ति का रोग आज सारी समाज में फैल गया है। यह रोग जब तक दूर नहीं हो तब तक तज्जन्य ये सब पाप कैसे दूर हो सकेंगे? रशियन क्रान्तिकारक लेनिन ने इस संग्रह वृत्ति को मानव समाज की पीठ का जहरीला फोड़ा कहा है। उसका ऑपरेशन हो तभी उसमें रहा हुआ काला बाजार और अप्रामाणिकता का खून तथा उससे फैलने वाली शोषण-वृत्ति की दुर्गन्ध दूर हो सकती है। परन्तु आज तो मानव की मनोवृत्ति ऐसे फोड़ों को बढ़ाने की हो गई है। हर तरह का परिग्रह मानव शरीर पर होने वाले फोड़ों की तरह है। यह मनोवृत्ति सुधरे तभी व्यवहार शुद्धि सम्भव हो सकती है।

हमारे गुरुदेव एक सुन्दर उपमा देकर कई बार कहा करते हैं कि जैसे लोहे की पंसेरी में अँगुली डालने का प्रयास करना व्यर्थ होता है, उससे अँगुली टूट सकती है, पर अन्दर नहीं जा सकती है, वैसे ही संग्रहवृत्ति वाले हृदय में चाहे जितने प्रयत्न करो, पर धर्म क्रिया नहीं बैठ सकती है। धर्म को हृदय में स्थान देने के लिये और सामायिकादि उच्च क्रियाओं को सफल करने के लिये सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, प्रामाणिकता आदि गुणों को अवश्य अपनाना चाहिये। व्यवहार शुद्धि और क्रिया शुद्धि का यही राजमार्ग है।

# धर्म को भी फरनीचर मत बनाओ

दुनिया के सभी धर्मों का ऐसा कहना है कि थोड़ा भी आचरण किया गया धर्म महान फलदायी होता है। थोड़ा भी भला काम करना अच्छा फल देता है। वट का छोटा-सा बीज कितने मानवों का आशीर्वाद लेता है? धर्म का बीज भी ऐसा ही है। थोड़ा-सा धर्माचरण भी वट के वृक्ष की तरह अधिक फलदायी होता है।

आज हमारे घरों में शोभा की वस्तुएँ ज्यादा बढ़ गई हैं। जीवन व्यवहार चलाते समय आप अपना सारा समय धर्म में नहीं लगा सकते हैं। लेकिन शुद्ध मन से इतना भी धर्माचरण किया जाय तो यह बहुत फलदायी हो सकता है और गृहस्थाश्रमी के लिए पर्याप्त भी कहा जा सकता है लेकिन आज ऐसा करता कौन है? धर्म का उपयोग भी तो आज फरनीचर की तरह दिखावे के रूप में होने लग गया है अतः उसका कुछ भी फल नहीं होता है।

दुरबीन बड़ी अच्छी हो, चश्मा भी अच्छा हो, पर देखने वाली आँखें न हों तो इसके अभाव में जैसे सब अच्छे होते हुए भी निकम्मे होते हैं, वैसे ही आत्मबल या सत्य बल के अभाव में अन्य सब बल भी निकम्मे तेजहीन हो जाते हैं।

राम वनवासी थे। उनके पास कुछ नहीं था। उनको एक बलवान् राजा रावण से, जिसकी नगरी सोने की बनी हुई थी, लड़ाई लड़नी पड़ी थी। परन्तु जीत राम की ही हुई

और रावण को हार खानी पड़ी। क्योंकि उनके पास अन्य सब बल थे, पर धर्म का बल नहीं था, नीति का बल नहीं था, अतः वह हारा और राम जीते। कौरव और पाण्डवों का युद्ध हुआ। कौरव राज्य भोगी थे और पाण्डव वनवासी। फिर भी विजयी पाण्डव हुए। क्योंकि उनके पास न्याय था और कौरवों के पास अन्याय। अतः वे हार गये। इससे कहने का मतलब इतना ही है कि अनैतिकता, अन्याय और अधर्मादि का चाहे जितना बल क्यों न हो, पर अहिंसा का थोड़ा बल उनके सामने हो तो यह उनको परास्त कर देता है—जीत लेता है।

हमारे जीवन में ऐसा बल नहीं है। हमने आज धर्म को भी फरनीचर का रूप दे दिया है। तब फिर ऐसा बल कहाँ से आ सकता है? आप उपाश्रय में आते हैं और सामायिक करते हैं, लेकिन क्यों करते हैं? समभाव की शिक्षा लेने के लिए ही तो करते हैं न? लेकिन उपाश्रय की एक मुहूर्त की सामायिक यदि जीवन व्यापी सामायिक न बन सके तो क्या वह पूर्ण फलदायी सामायिक कही जा सकेगी? क्या उस सामायिक साधन से अभीप्सित साध्य-समभाव की प्राप्ति की जा सकेगी? आपकी उपाश्रय की सामायिक यदि उपाश्रय तक ही सीमित रहे और वह धीरे-धीरे जीवन व्यापी न बने तो फिर वह फरनीचर जैसी ही कही जायगी। मकान को सजाने के लिए जैसे तरह-तरह के फरनीचर सजाये जाते हैं और शोभा का दिखावा किया जाता है, वैसे ही हमारे जीवन में भी एक मुहूर्त की सामायिक को, यदि उसे जीवन-व्यापी सामायिक बनाने का प्रयत्न न किया जाय तो उसका भी शोभा के फरनीचर से अधिक मूल्य न होगा।

मेरी नजरों में तो आपकी उपाश्रय की सामायिक की कसौटी ही इसमें है कि आपने अपने व्यवहारिक जीवन में समभाव रखना सीखा है या नहीं ? आप अपनी दुकान पर बैठते हैं, तब ग्राहकों के साथ में समान व्यवहार रखते हैं या नहीं ? अमीर और गरीब के साथ में समभाव ( समान व्यवहार ) रखते हैं या नहीं ? अगर नहीं रखते हैं तो यह निश्चय समझ लीजिये कि अभी आपकी सामायिक अधूरी है। वह उपाश्रय तक ही बंध है, यानी उसमें गति नहीं है। अतः यदि आप सचमुच अपनी सामायिक को सच्ची सामायिक का रूप देना चाहते हैं तो उसे उपाश्रय तक ही सीमित मत रखिये, लेकिन जीवन व्यापी बनाइये।

एक मनुष्य सड़क पर तो चप्पल पहन कर चलता हो और कँटीले पथ पर यदि वह उन्हें हाथ में लेकर चले, तो आप उसे क्या कहेंगे ? ठीक इसी तरह जब आप उपाश्रय में सामायिक करें, तब तो समभाव और उपाश्रय से बाहर निकलते ही अपने स्वजनों से लड़ने लग जायँ तो यह आपकी सामायिक कैसी कही जायगी ? उपाश्रय में जो हम एक मुहूर्त की सामायिक करते हैं, वह जब तक अपने जीवन में न समा जाय तब तक अपूर्ण होती है। द्रव्य सामायिक उपाश्रय तक सीमित हो सकती है, पर भाव सामायिक तो जीवन व्यापी ही होनी चाहिये। जब हमारी सामायिक भी ऐसी जीवन व्यापी सामायिक बनेगी तभी वह सार्थक कही जा सकेगी।

आपकी दुकान पर कोई ग्राहक आवे और कपड़े का भाव पूछ कर चला जाय, इस तरह वह तीन-चार दिन तक आता रहे और ले कुछ नहीं तो आप उसे क्या कहेंगे ? चले जाओ

यहाँ से, लेते-देते तो कुछ हो नहीं और नाहक हमें हैरान करते हो ? यही कहेंगे न ? ठीक इसी तरह धर्मगुरु भी आपको प्रतिदिन अपनी दुकान खोल कर बताते हैं, पर आप उसमें से कुछ न लें तो हमें भी क्या कहना चाहिये ? एक ग्वाला छलनी में दूध दुहता हो आप उसे क्या कहेंगे ? क्या हमें भी आप ग्वाले जैसा मूर्ख तो नहीं बना रहे हैं ?

एक वार राजा भोज के पास एक पुतलियों का कारीगर आया। उसने अपनी तीन पुतलियाँ बताते हुए कहा महाराज, मैं कई जगह फिरा हूँ, पर मेरी इन पुतलियों की कोई भी ठीक ठीक कीमत नहीं कर सका है। विवश हो अब मैं आपके पास आया हूँ। आपके दरबार में बड़े बड़े जौहरी, कलाकार और विद्वान् रहते हैं। अब आप ही इनकी ठीक ठीक कीमत करवा दीजिये। राजा ने कहा—यह कौनसी बड़ी बात है ? कारीगर ने अपनी पुतलियाँ राजा के सामने रख दीं। राजा ने अपने पास में बैठे हुए झवेरी से उनकी कीमत करने को कहा। झवेरी ने उन तीनों पुतलियों को बड़े गौर से देखा। तीनों एक ही रूप रंग की और समान कोटि की थीं अतः उसने तीनों की एक समान कीमत बता दी। यह सुन कर कारीगर ने अपना सिर हिला दिया। राजा ने कहा—देखो, इनकी कीमत में कुछ अन्तर मालूम होता है। तब उसने अपने प्रमुख कलाकारों को बुलाया और उनसे इन पुतलियों की कीमत बताने को कहा। कलाकारों नें भी उन पुतलियों की सब तरह से जाँच की और फिर कहा—ये सब पुतलियाँ समान कीमत की हैं। कारीगर ने यह सुन कर पहले की तरह ही अपना सिर हिला दिया। यह देख कर राजा ने अपने राजकवि कालीदास से इनकी

कीमत करने को कहा। कालीदास ने उनकी जाँच की और कहा—राजन्! इन तीनों पुतलियों की कीमत अलग अलग है। उन्होंने एक सलाई ली और एक पुतली के कान में डाली। वह इधर से उधर निकल गई। उसकी कीमत वताते हुए कालीदास ने कहा—यह तीन कौड़ी की पुतली है। तव उसने दूसरी पुतली के कान में सलाई डाली। वह उसके मुँह में से निकल गई। इसकी कीमत उसने एक रुपया वताई। तीसरी पुतली के कान में सलाई डाली तो वह उसके हृदय में चली गई। उसकी कीमत वताते हुए कालीदास ने कहा—यह पुतली सवा लाख रुपये की है। राजा ने कहा—दीखने में तो सव पुतलियाँ एक समान दीखती हैं। तव फिर कीमत में इतना फर्क क्यों है?

कालीदास ने इसका रहस्य समझाते हुए कहा—जो पुतली एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देती है वह तीन कौड़ी की होती है। उसके समान जो मनुष्य होता है उसकी कीमत भी तीन कौड़ी से अधिक नहीं होती है। दूसरी पुतली की तरह जो मानव होता है—कान से सुनकर मुँह से निकाल देता है, उसकी कीमत एक रुपया से अधिक नहीं होती है। लेकिन तीसरी पुतली के समान जो मानव होता है—कान से सुनकर हृदय में जो समा लेता है, वह सवा लाख का आदमी होता है। अव देखिये, आज हम किस कोटि में आते हैं? मेरा तो खयाल है कि आज हम सव प्रायः पहली कोटि में ही आते हैं। आज हमें भगवान की वाणी सुनने का हक नहीं है। उसे एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देना कितना गुरुतर अपराध है? हम कम से कम मध्यम श्रेणी में तो वने रहें। जो हमारे पास आवे उसे हम धर्म तो सुनाया करें? लेकिन साध्य तो हमारा

तीसरी कोटि जैसा ही होना चाहिये। तभी हमारे जीवन की सार्थकता है।

पुराने समय में आजकल की तरह पुस्तकें नहीं थीं। वे धर्म तत्त्वों को आत्म-सात कर लेते थे। अग्नि पर हाथ रखने से हाथ जल जायगा, जैसे हम यह नहीं भूलते हैं, वैसे ही धर्म की बातों को भी नहीं भूलना चाहिये। उनका कोरा दिखावा ही न कर उन पर सच्चा अमल करना चाहिये। अगर आप ऐसा करेंगे तो अपना जीवन सफल कर सकेंगे।
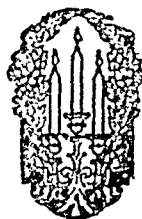
# आदर्श के पुजारी बनो

मन्दिर में जाकर देवता की प्रतिमा के सामने धूप दे
वाले कई मानव मिलेंगे, पर अपने आदर्श के सामने-सिद्धान्
के सामने धूप देने वाले कितने मानव मिलेंगे? देवता
आगे धूप देने वाले तो कई हैं, पर सिद्धान्त के खातिर, स
के खातिर जीवन की धूप देने वाले विरले ही मिलेंगे। ज
तक सत्य के खातिर जीवन की धूप न दें तब तक याद रखि
आपको कोई सिद्धि हासिल नहीं हो सकेगी। ऐसा ही ध
हमारी रक्षा करेगा। स्मृतिकार ने कहा है कि—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

धर्म का पालन करोगे तो वह तुम्हारी रक्षा करेगा औ
तुम उसका नाश करोगे तो वह भी तुम्हारा नाश कर देगा

हिन्दुस्तान में अन्य देशों की अपेक्षा ज्यादा धर्म है
अमेरिका में किसी भी बड़े आदमी का धार्मिक ज्ञान ज्याद
नहीं होगा। राजनीति का ज्ञान ज्यादा होगा, पर धर्म में त
वे शून्य ही होंगे। लेकिन हमारे यहाँ ऐसी बात नहीं है। ए
छोटे से गाँव में रहने वाला आदमी भी धर्म का बड़ा ज्ञात
मिलेगा। इससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि दूसरे देश
में जहाँ राजनीति प्रधान है, वहाँ हमारे मुल्क में धर्म प्रधान
है। दूसरे देशों ने जितने धर्मों को अपने यहाँ स्थान नह
दिया उतने धर्मों का सम्मेलन हमारे यहाँ हुआ है। ईसाई,
इस्लाम आदि सभी धर्मों को यहाँ स्थान दिया गया है। इतना

धर्म प्रधान देश होते हुए भी हिन्द आज सुखी क्यों नहीं है? जबकि स्मृतिकार ने तो कहा है कि—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। जो धर्म का पालन करता है वह सुखी होता है। हिन्द धर्म प्रधान देश है, तो वह आज सुखी क्यों नहीं है? और जिसने आज धर्म का नाश कर दिया है, वह रशिया सुखी क्यों है? इसका कारण यह है कि हम धर्म का अर्थ समझे नहीं हैं। रशिया ने धर्म का नहीं, साम्प्रदायिकता का नाश किया है। भला अहिंसा और सत्य का कौन नाश कर सकता है? लेकिन हमारे देश में आज जिसे धर्म कहा जा रहा है, वह धर्म नहीं धर्म के साधन मात्र हैं। जिनको हम धर्म मान बैठे हैं। हर एक धर्म के अन्दर दो तत्त्व होते हैं—शाश्वत और अशाश्वत। शाश्वत तत्त्व कभी बदलते नहीं हैं, पर अशाश्वत समयानुसार बदलते रहते हैं। परन्तु जब अचल सिद्धान्त मानवता से दूर हो जाते हैं और चल सिद्धान्तों का प्रचलन अधिक बढ़ जाता है तब उसका पतन अवश्यंभावी हो जाता है। आज हमारे देश-वासियों की भी यही स्थिति हो रही है। वे शाश्वत सिद्धान्तों को भूल कर अशाश्वत सिद्धान्तों पर चलने लग गये हैं अतः पतन के गर्त में उतरते जा रहे हैं।

शरीर और आत्मा दो चीज़ हैं। शरीर अशाश्वत है और आत्मा शाश्वत है। शरीर मर जाय, पर जैसे आत्मा कायम रहता है, वैसे ही धर्म भी अपने शाश्वत रूप में सदैव बना रहता है। धर्म के यम सिद्धान्त कायम रहते हैं और नियम अशाश्वत होते हैं, जिनमें समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। अतः अशाश्वत सिद्धान्तों को समझ कर धर्म के अचल सिद्धान्तों का पालन करना चाहिये। तभी हम धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे।

छोटे बालक के कपड़े बड़े आदमी के लिये बेकाम होते हैं, अनुपयोगी होते हैं। ऐसे ही धर्म के बाहरी नियमों में भी रद्दोबदल होते रहते हैं। म्युनिसीपालिटी जैसी संस्था भी तीन साल में अपने नियमों को बदल देती है तो क्या ३०० साल पुराने धर्मों के साधनों में फेर-फार नहीं हो सकता है? समयानुसार बाह्य साधनों की शुद्धि करते रहना चाहिये। लेकिन साधनों के अन्तर से धर्म के मूल सिद्धान्तों में भी अन्तर हो जाता है यह नहीं समझ लेना चाहिये।

आज हमारा देश धर्म प्रधान होते हुए भी सुखी नहीं है। इसका कारण यही है कि हम शाश्वत सिद्धान्तों का पालन नहीं करते हैं। धर्म के शाश्वत सिद्धान्त अहिंसा, मैत्री, प्रेम और सत्य आदि हैं। जिनमें कभी रद्दोबदल नहीं हो सकता है। बाह्य वस्तुएँ अशाश्वत हैं। एक हिन्दू को जब कोई बिना चोटी के या जनेऊ के देखता है तो झट कह देता है कि इसने तो धर्म को ही डुबा दिया। पर क्या धर्म इतना हल्का होता है कि वह इन बाह्य साधनों से डूब सकता है? यही फर्क हमारे धर्म को समझने में है, जिससे आज हमारा देश सुखी नहीं है।

धर्म और धन में बड़ा अन्तर है। धर्म स्व-पर कल्याणकारी होता है, पर धन स्वसुखी और पर-दुखी होता है। हमारी हर एक धार्मिक क्रिया इसी कसौटी पर कसनी चाहिये कि वह स्व-पर सुखदायी है या नहीं? दूसरे के लिये अपना जीवन लगा देना यही सच्चा धर्म है और इसी में स्वसुख भी रहा हुआ है।

एक खेत में नन्हीं-नन्हीं दूब खड़ी हुई थी। जिस पर पड़ी हुई ओस बिन्दुएँ सूर्य की किरणों से चमक रही थीं। पास

ही एक हीरा भी पड़ा हुआ चमक रहा था। उस समय वहाँ एक पतंगिया उड़कर आया और हीरे से बोला—नमस्ते सेठजी! क्या ये तुषार-बिन्दु आपके सम्बन्धी होते हैं? यह सुनकर हीरा क्रोधित हो गया और बोला—चल, हट जा यहाँ से, इन निर्माल्य तुषार-बिन्दुओं से तू मेरी कीमत करना चाहता है? यह सुनकर ओसबिन्दु अपने मन में अफ़सोस करने लगती है। इतने में एक पक्षी उड़ कर वहाँ आया और उस हीरे पर अपनी चोंच मार कर बोला—अरे, यह तो हीरा है। मैं तो इसे ओसबिन्दु समझ रहा था। प्यास के मारे पक्षी मरा जा रहा था। तब उसने तुषार बिन्दु से कहा—'तुम अगर मेरे पर उपकार कर सको तो मैं बच सकता हूँ। प्यास के मारे मेरे प्राण सूखे जा रहे हैं।' ओस-बिन्दु ने कहा—अगर यह मेरी जिन्दगी तुम्हारे उपयोग में आ सके तो इससे अधिक और क्या खुशी की बात होगी? पक्षी ने अपना मुँह खोला और ओसबिन्दु उसमें समा गई। कहिये, अब कौन बड़ा है? हीरा या ओसबिन्दु? जो अपना जीवन दूसरों की भलाई के लिये न्यौछावर कर देता है वही बड़ा होता है।

यूरोप के लोग मौज-मजा करने के लिये अकसर दरिया के किनारे जहाँ बर्फ़ जमी होती है, जाते हैं। एक दिन कुछ लोग समुद्र के किनारे बैठे हुए थे। इतने में तो भयंकर तूफान शुरू हो गया और सब लोग ठंड से थर्राने लग गये। पास में एक गरीब बुढ़या की झोंपड़ी के सिवाय और कुछ नहीं था। बुढ़िया ने देखा—सब लोग अभी बिना मौत मर जायँगे। उनको अब कैसे बचाया जाय? झोंपड़ी के सिवाय उसके पास और कोई साधन नहीं था। उसने सोचा—अगर मैं अपनी झोंपड़ी में आग लगा दूँ तो झोंपड़ी जलती देखकर

वे सब लोग यहाँ आजावेंगे और अग्नि से अपनी रक्षा कर लेंगे। ऐसा सोच कर उसने अपनी झोंपड़ी में आग लगा दी। झोंपड़ी जलने लगी, जिसे देखकर सब लोग वहाँ आ गये। डूबते हुओं को तिनके का सहारा मिल गया। परहित के लिये बुढ़िया ने अपनी झोंपड़ी भी, जो कि उसका एक मात्र सहारा था, जला दी और कुछ विचार तक नहीं किया। ऐसी जिन्दगी ही सच्ची जिन्दगी है। यही मानव-जीवन की कसौटी है।

मानव जीवन के तीन भाग हो सकते हैं। पहला—जंगलीपन—यानी खाना-पीना और मौज करना। दूसरा—अवस्थ—इससे आगे बढ़कर समाज की रचना करना और कायदे कानून बनाना। तीसरा—कायदे-कानून न होने पर भी धर्म का व्यवहार करना।

अब देखिये, आज हम किस विभाग में हैं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि मानव अपने जीवन में बिना किसी दबाव के ही धर्म का पालन करे। लेकिन आज तो मानव चारों तरफ से कानूनों से बँधा हुआ है। हृदय की मलिन वृत्ति को दूर करने के लिए ही हमारे ये बाह्य साधन हैं। जिन्हें हम त्याग आदि कहते हैं। अगर ये साधन हमारा परिवर्तन नहीं कर सकते हों तो इन साधनों में परिवर्तन कर देना चाहिये। ऐसा सोचकर अगर हम साधनों को पकड़ कर धर्माचरण करेंगे तो उत्कृष्ट धर्म का पालन कर सकेंगे। यही धर्म 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का प्रतीक होगा। जब हमारा दृष्टिकोण धर्म के अचल सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ होगा तो हम सत्यं शिवं सुन्दरम् को प्राप्त कर सकेंगे।

आयरलैण्ड की यह बात है। वहाँ एक बड़ी नदी है,

जिसके किनारे 'बोनाट' नामक एक छोटा सा गाँव बसा हुआ है। सन् १६०१ में वहाँ विलियस स्मिथ नामक एक डाक्टर रहता था। गरीबों की सेवा करना और रोगों से उन्हें बचाना यही उसका ध्येय था। उससे कुछ दूर मच्छीमारों के झोंपड़े थे जिनमें मच्छीमार रहा करते थे। एक बार उनमें से एक आदमी को ऐसीचेपी रोग हो गया जो धीरे-धीरे सबको लागू हो गया। सब लोग उस रोग से परेशान हो गये थे। डाक्टर ने जब यह सुना तो वह उनके झोंपड़ों पर गया। उनके घरों को देखकर वह दंग रह गया। एक-एक झोंपड़ी में तीन-चार बीमार पड़े हुए थे। डाक्टर रोजाना अपनी नाव में बैठकर जाता और अपने हाथों से उनकी चिकित्सा करता था। एक दिन उसने मच्छीमारों से कहा, तुम अपने घरों को छोड़कर कुछ दिनों के लिये समुद्र के किनारे चले जाओ, वहाँ तुम्हें ताजी हवा मिलेगी और तुम जल्दी ठीक हो जाओगे।' पहले तो उन्होंने आना-कानी की, पर जब डाक्टर के समझाने से वे तैयार हुए तो उन्हें नाव में बैठाने के लिये कोई तैयार नहीं हुआ। कौन उन्हें उठाकर नाव में बैठावे और समुद्र के किनारे छोड़े? एक लोकल ऑफीसर की सहायता से डाक्टर ने उन सबको उठा-उठाकर अपनी नाव में बैठाया और किसी तरह उन्हें समुद्र के किनारे पहुँचाया। यहाँ उनकी चिकित्सा करने पर वे सब लोग तो कुछ दिनों में ठीक हो गये, परन्तु डाक्टर को उनके इस भयंकर रोग का शिकार हो जाना पड़ा। वह मौत के मुँह में पड़ा हुआ था फिर भी वह यह सोच कर खुश था कि मैंने लोगों की सेवा कर अपना फर्ज अदा कर दिया है। मैंने एक दिन कहा था कि मानव, जन्मे तो रोवे और मरे तो हँसे, ऐसा उसका जीवन होना चाहिये। डाक्टर का जीवन

कैसा था ? वह मौत के मुँह में जा रहा था, तब भी वह हँस रहा था और आसपास वाले सब लोग रो रहे थे ? यही उसका पवित्र जीवन था ? आपको भी अपना जीवन ऐसा ही बनाना चाहिए।

सामायिक आप करते हैं, जरूर कीजिये। इससे अच्छी और क्या धर्मकरणी हो सकती है ? लेकिन वह केवल एक घण्टे के लिये ही न हो, आप उसे जीवन व्यापी सामायिक बना दें, इसी में उसकी सच्ची सार्थकता है।

# प्रगतिशील जीवन

हमारी आत्मा क्रमशः विकास करती हुई आज मनुष्य योनि तक पहुँची है। निगोद में से स्थावर, स्थावर से विकलेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय से असंयती पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और फिर इससे मनुष्य रूप में उत्पन्न होना सामान्य विकास क्रम नहीं है। विकास या प्रगति की कल्पना मात्र से ही जीवन आनंदित हो उठता है। विकास के बिना जीवन की गति अवरुद्ध हो जाती है और इससे जीवन में अरुचि पैदा हो जाती है। जैसा कि एक अनुभवी ने लिखा है—

I am suffocated and last when I have not the bright feelings of progression.

आज का जमाना भी प्रगति का है। आज की सदी में विज्ञान ने बहुत उन्नति की है। रेल, मोटर, स्टीमर, एरोप्लेन, तार, टेलीफ़ोन, रेडियो आदि की उसकी शोध तो मानव जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकताएँ हो गई हैं। अणु बम और हाईड्रोजन बम भी विज्ञान की ही शोध है। इस तरह विज्ञान आज हर दिशा में अपनी तीव्र प्रगति कर रहा है। परन्तु इस बीसवीं सदी का मानव कितना जड़ मूर्ख हो गया है कि वह दूसरे जड़ पदार्थों के विकास में अपने विकास का भान ही भूल बैठा है। उसे कोई यह तो पूछे कि सब चीजों में तो तूने बड़ी प्रगति की है, पर तू स्वयं कितने कदम आगे बढ़ा है? यह तो जरा बता? तब उसे अपनी स्थिति का ज्ञान होगा। हमें यह मानना होगा कि हमारे पूर्वजों ने

ऐसे आविष्कार नहीं किये थे। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उनका जीवन आज के वैज्ञानिकों के जीवन से हजार गुना ज्यादा अच्छा था। वे सब बड़े सुखी थे। जब कि आज तो अनेक आविष्कारों का कर्ता मनुष्य दुखित हो पतित जीवन व्यतीत कर रहा है। इसी पतन ने आज दुनिया में उल्कापात मचा रखा है। प्रगतिशील जीवन बनाने के लिये प्रगति क्या है ? और वह कैसे की जा सकती है ? इन दोनों बातों को पूर्णतया समझ लेना आवश्यक है।

स्थिरता में से आकस्मिक आक्रमण से जो गति पैदा हो जाती है वह प्रेरित गति कहाती है। स्वेच्छा से चलना गति है, परन्तु स्वेच्छा से ऊर्ध्व दिशा में ही गति करना प्रगति कही गई है।

पहली स्थिति स्थिरता की है; जड़ता की है। यानी पुरुषार्थ हीनता की है। जिसे शास्त्रीय परिभाषा में निगोद की स्थिति कह सकते हैं। असंज्ञी त्रस जीवों में भी प्रेरित गति होती है। यों मनुष्य में गति तो होती है यानी वह स्वेच्छा से चलता तो है, पर वह विना सोचे समझे चलता है अतः वह प्रगति नहीं कर सकता है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थानों में जो विचरण करता है। वही पुरुष प्रगति का अधिकारी बन सकता है।

जैन खगोल से पृथ्वी स्थिर है अगतिशील है। तृण में प्रेरित गति होती है, क्योंकि वह हवा के सहारे उड़ता है। जुगनू में गति है, वह चलेगा तो स्वेच्छा से, पर हवा के प्रतिकूल नहीं जा सकेगा। लेकिन गरुड़ में प्रगति है। वह हवा के प्रतिकूल भी उड़ना चाहेगा तो आसानी से उड़ सकेगा। इस तरह बहते हुए समय के प्रवाह का मुकाबला

कर जो उसके सामने चल सके वही प्रगतिशील होता है। आज के युग का प्रवाह भौतिकता और विलासिता की ओर वह रहा है। उसका प्रतिकार करके जो व्यक्ति त्याग और सादगी का वातावरण फैला सके वही सच्चा प्रगतिशील कहा जा सकता है।

आज के युग का जीवन मंत्र है 'स्व शरीर पोषण' और 'अन्य जीवन शोषण' इसके विरुद्ध जो मनुष्य क्रांति पैदा करता है और जो अपने शोषण से भी दूसरों का पोषण करता है वह प्रगतिशील मानव होता है। दुनिया में ऐसे मनुष्य बहुत कम होते हैं। परन्तु जो होते हैं वे न्याय और सादगी के पथ पर ही प्रमाण करते हुए प्रगतिशील बनते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि गति के प्रारंभ से स्थिरता का होना जरूरी है। जैसे यदि कोई बालक अपने पैर को स्थिर नहीं रख सकता है तो उसके लिये गति या प्रगति दोनों ही खतरनाक होती हैं। वैसे ही स्थिरता या सहिष्णुता रहित प्रगति भी खतरनाक होती है। स्थिरता बनाम सहिष्णुता क्षेत्र शुद्धि है। इसी सहिष्णुता को भगवान् महावीर ने मनुष्यत्व प्राप्त करने के चार मार्गों में एक 'अमात्सर्य' नाम से गिनाया है। दूसरों के बल, बुद्धि, सुख, गुण या ऐश्वर्य की वृद्धि देखकर प्रमोद भाव लाना सहिष्णुता या अमात्सर्य है। सहिष्णुता को सभी गुणों में शिरोमणि माना गया है। जैसा कि एक तत्व ज्ञानी ने कहा है—

Toleration among the virtues is like the moon among the stars.

"तारों के बीच में जैसे चन्द्रमा शोभा देता है वैसे ही दया, दान, संयम, तप और उदारता आदि गुणों में सहिष्णुता

शोभा देती है।" सर्व धर्म सहिष्णुता की आज संसार को बड़ी भारी आवश्यकता है। इसके अभाव में ही आज संसार युद्ध का केन्द्र बना हुआ है। इसलिये प्रगति के लिए सर्व प्रथम स्थिरता यानी सहिष्णुता का होना आवश्यक है। सहिष्णुता होने पर ही प्रगति के लिए आगे बढ़ा ज सकता है।

जिसमें सहिष्णुता नहीं है वह शूद्र है। जो सहिष्णुत में स्थिर है वह वैश्य है। गति करने वाला क्षत्रिय है और जो प्रगति कर सके वह ब्राह्मण है। पाश्चात्य विद्वान् रस्किन ने कहा है—'जिसका हृदय दिन प्रति दिन दयार्द्र होता जाता हो, खून गरम और बुद्धि तीव्र होती जाती हो, आत्म-शान्ति की वृद्धि होती जाती हो, तो समझ लो उसी का जीवन प्रगतिशील है।'

रस्किन ने प्रगति का प्रथम चरण हृदय की दयार्द्रता कहा है। स्वामी विवेकानन्द ने भी यही बात अपने एक शिष्य से कही थी। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने विरजानन्द से गाँवों में घूम-फिर कर अपने उदार विचारों का प्रचार करने के लिए कहा। तब निवृत्तिपरायण विरजानन्द ने उत्तर दिया, स्वामीजी; अभी कुछ समय तक मुझे मुक्ति के लिए और साधना करने दीजिये।' यह सुनते ही स्वामी विवेकानन्द गर्जना करते हुए बोले—याद रखो, अधिकार के बिना मुक्ति चाहोगे तो नरक में गिरे बिना नहीं रहोगे। मुक्ति पद पाना हो तो दूसरों की सेवा करो। दूसरों की सेवा करते हुए कष्ट भी उठाना पड़े तो कोई बात नहीं है। स्वार्थ की साधना द्वारा प्राप्त किये हुए स्वर्ग से तो परमार्थ करते हुए कष्ट सहन करना अच्छा ही है।' इस तरह हृदय को दयार्द्र

वना कर सेवा में अनुरक्त हो जाना प्रगति का प्रथम चरण चिह्न है।

पापियों से दुर्वलों की रक्षा करने के लिए जिसका खून अधिक गरम हो जाता हो वह भी प्रगतिशील पुरुष कहा गया है। दूसरों को सताने के लिए नहीं, परन्तु पर-रक्षण के खातिर अपना बलिदान देने के लिए खून गरम होना चाहिये। वावू गनु ने आपके सामने ही वम्बई में वलिदान दिया था। कानपुर में कौमी एकता के लिये गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपना वलिदान दे दिया था। इस प्रकार स्वार्पण के लिये जिनका वीर्य छलकता रहता हो वही प्रगतिशील है। ऐसे ही तीव्र वुद्धिशाली पुरुष भी प्रगतिशील होते हैं। क्योंकि उनकी बुद्धि लोक-कल्याण के काम में आती है।

रस्किन की व्याख्यानुसार प्रगतिशील का चौथा चरण चिह्न अनंत शक्ति की ओर प्रयाण करना है। इसका तात्पर्य यह है कि सुख, दुख, मान, अपमान, निंदा, स्तुति संयोग, वियोग, नफा-नुकसान, जय-पराजय आदि प्रसंगों में भी जो अपनी आत्म शांति को भंग नहीं होने देता है वही प्रगति शील मानव कहलाता है।

जो प्रगति नहीं करेंगे वे गति में ही रुके रहेंगे। और गति से तो चार गति का भ्रमण निश्चित ही है। अतः प्रगति करो। प्रगति से ही पंचम गति ( मोक्ष ) की प्राप्ति होती है।

यह तो निश्चित है कि सन्मार्ग पर चलने वाला नित्य-प्रति आगे वढ़ता जायगा और कुमार्ग पर चलने वाला प्रति-दिन भ्रष्ट होता जायगा। क्योंकि गुण दुर्गुण और समय कभी स्थिर नहीं रहते हैं। ये तो अविराम चलते ही रहते हैं। अतः ऐसी स्थिति में प्रगति के पथ पर प्रयाण करना ही हितकर है।

अब प्रश्न यह है कि प्रगति का मार्ग क्या है? हम अपनी प्रगति कैसे कर सकते हैं? इसका उत्तर इतना ही है कि हेय वस्तुओं का त्याग करना, ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान करना और उपादेय वस्तुओं को अपने जीवन में स्थान देना ही प्रगति का मार्ग है।

बुद्धि की जड़ता और हृदय की वक्रता ये दोनों हेय बातें हैं। कहना चाहें तो दुनिया के सभी रोगों की इन्हें जड़ कह सकते हैं। क्योंकि बुद्धि की जड़ता सत्य स्वरूप पर श्रद्धा नहीं करने देती है। जब ज्ञान और दर्शन ही इस तरह रुके पड़े रहें तो फिर चारित्र की बात कहाँ रहती है? भगवान् महावीर तो त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने तो यह पहले से ही कह दिया था कि—'हे गौतम! भविष्य के मानव समाज में बुद्धि की वक्रता अधिक होगी।' इस वक्रता को हटाना और जड़ता को मिटाना ही विकास का मार्ग है।

ज्ञेय यानी जानने योग्य बातें तीन हैं—वृत्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति। कौन-कौन-सी वृत्तियाँ मन में उठा करती हैं? उनमें से किस वृत्ति की प्रवृत्ति करनी चाहिये और किसकी निवृत्ति, इसका जिसे पूर्ण अभ्यास हो गया हो वही अपनी प्रगति कर सकता है। अच्छी या बुरी सभी प्रवृत्तियों से निवृत्ति लेना जड़ता है। और बुरी में प्रवृत्ति करना शैतानियत है। अतः प्रगति करने से पूर्व इन तीनों वृत्तियों का ज्ञान होना चाहिये जिससे कि कोई महान् भूल न हो।

ग्रहण, त्याग और संयम ये तीन क्रियाएँ उपादेय हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विकास करने के लिये इन तीनों क्रियाओं की आवश्यकता होती है। शरीर के विकास के लिये भी ये तीन क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। प्रकृति के अनुकूल खुराक

यथा समय यथोचित रीति से लेना ग्रहण क्रिया है। जब तक खुराक हजम न हो तब तक और कुछ नहीं लेना संयम क्रिया है। पचने पर सत्व हीन कचरा बाहर निकालना त्याग क्रिया है। ये तीनों क्रियाएँ शरीर विकास के लिये अनिवार्य होती हैं और इन्हीं तीनों क्रियाओं से ही व्यक्ति की, घर की, समाज की और क्रमशः राज्य की उन्नति होती है। इन तीनों में से यदि किसी एक को ही अपनाया जायगा तो जीवन का उत्थान नहीं पतन हो जायगा।

यदि एक व्यक्ति समाज में से धन लूटता ही रहे, उसे पचावे नहीं और न कुछ त्याग ही करे तो वह समाज के लिये भारभूत हो जायगा। धन, कीर्ति या सत्ता संसारी जीवन के लिये कोई अनिष्टकारी तत्त्व नहीं है, परन्तु इनको ही एकान्त ध्येय समझ लेने वाली बुद्धि अनिष्टकारी होती है। जैसा कि एक अंग्रेज विद्वान् ने लिखा है—It is not money, as is sometimes said but the love of money, the excessive, selfish covetious of money that is the root of all evil.

इसी भावना को जैन शास्त्रकारों ने अपने यहाँ 'मूर्च्छा परिग्रहः' के रूप में व्यक्त किया है। पैसा नहीं, पर पैसे का मोह ही सभी पापों की जड़ है।

इस प्रकार जो हेय, ज्ञेय और उपादेय वस्तुओं को अनुक्रम से छोड़ेगा, जानेगा और आचरण करेगा वही अपना जीवन प्रगतिशील बना सकेगा।

# स्वाश्रयी जीवन

दुनिया के सभी धर्मों ने अहिंसा पर विशेष भार दिया है। जहाँ अहिंसा नहीं है वहाँ धर्म भी नहीं टिक सकता है। सभी धर्मों ने 'खून बहाना' बड़े से बड़ा पाप और हिंसा मानी है। हमारे यहाँ भी किसी का खून नहीं बहाया जा सकता है। क्योंकि उसमें हम महान् पाप मानते हैं। यह सच है कि हमारे यहाँ दूसरों का खून नहीं बहाया जाता है, क्योंकि उससे पाप होता है। आप ऐसा नहीं समझ बैठें कि खून बहाने में पाप है और पसीना बहाने में कोई पाप नहीं है। खून बहाना जैसे बड़ा पाप है वैसे पसीना बहाना भी पाप है।

अफ्रीका के जंगली लोग मनुष्यों को मार डालते हैं। अतः हम उन्हें हिंसक और क्रूर कहते हैं। लेकिन सात्विक दृष्टि से यदि आप सोचेंगे तो किसी का खून चूसने में ही नहीं बिना इच्छा किसी से काम लेने में और शक्ति उपरान्त श्रम करवा कर उसका पसीना बहाने में भी हिंसा प्रतीत होगी। हाँ यह, सच है कि खून बहाना जंगली रिवाज है जबकि पसीना उतारना सुधरी हुई पद्धति है। पहली हिंसा का तत्काल असर हो जाता है जब कि दूसरी हिंसा का मानव जीवन पर धीरे-धीरे प्रभाव पड़ता है। फल प्राप्ति में दोनों क्रियाओं में ऊपरी व्यवधान जरूर दीखता है, परन्तु तत्वतः दोनों हिंसा में कोई विशेष अन्तर हो ऐसी बात नहीं है। इसीलिये जैन शास्त्रकारों ने बंध, अति भारारोपण

आदि का भी हिंसा व्रत के अतिचारों में समावेश किया है।

एक राजा दूसरी प्रजा का वध करता है, जबकि दूसरा राजा किसी प्रजा का वध तो नहीं करता है, परन्तु वह राजा इस प्रजा को निर्माल्य बनाकर, धीरे-धीरे अधिक श्रम करवा कर उसको सत्व हीन-वीर्य हीन कर देता है। तो कहिये, इन दोनों की वृत्तियों में क्या कुछ अन्तर है? जो अन्तर है वह ऊपर का है। पहला मार दिया जाता है, पर दूसरा जीवित भी मरा हुआ कर दिया जाता है।

आप किसी मनुष्य का खून नहीं बहाते हैं। इसका कारण आपकी अहिंसक भावना या करुणावृत्ति नहीं है। लेकिन दूसरे कई ऐसे कारण भी हैं जो आपको इस प्रकार की हिंसा से रोकते रहते हैं। मुख्य कारण तो राजकीय कानून है। जो आपको किसी मनुष्य की हिंसा करने पर अपराधी ठहरा देता है। दूसरी बात कमजोरी भी है। आपके पास शक्ति और साधनों का अभाव है। तीसरा कारण आपका धार्मिक बंधन है। जिससे आप किसी की हिंसा नहीं करते हैं। लेकिन यदि सचमुच आपमें करुणावृत्ति का प्राधान्य होता तो जैसे आप खून बहाने में महान पाप समझते हैं वैसे ही दूसरे का पसीना बहाने में भी आप पाप समझते और उससे बचने का उपाय करते। अगर आप ऐसा नहीं करते हैं तो किसी की हिंसा न करने मात्र से ही आप पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकते हैं।

आपका जीवन स्वाश्रयी नहीं है। इसलिये कदम कदम पर हिंसा तो है ही। फिर आप अहिंसक कैसे हो सकते हैं?

आप सोचते होंगे कि पैसा देकर काम कराने में भी कहीं हिंसा होती होगी? हाँ, होती है इस पर जरा गहराई से सोचिये। आपको अपनी भूल अवश्य ज्ञात होगी।

आप अपने जीवन की आवश्यकताओं को दूसरों से पूरा करते हैं। अनाज किसानों से, तो कपड़ा मीलों से या जुलाहों से लेकर अपना काम चलाना पड़ता है। कई एक चीजों के लिये विदेशियों का भी मुँह ताकना पड़ता है। इस प्रकार के परावलंबी जीवन से मनुष्य का पतन होता जाता है, जब कि स्वाश्रयी जीवन से संयम और स्वाभिमान की वृद्धि होती है।

स्वाश्रयी जीवन का अर्थ है, जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिये दूसरों पर आधारित न रहना। उन्हें अपने हाथों से निर्माण कर लेना। हाथ से काम करने वालों को अपनी योग्यता का भान होता है। इससे उनमें स्वाभिमान, जिसे अँग्रेजी में Self Respect कहते हैं अर्थात् आत्म सम्मान की भावना जागृत होती है। अँग्रेजों ने आत्म सम्मान को जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया है। और यह ठीक भी है। स्वाभिमानी पुरुष स्वतंत्र होता है। वह किसी की गुलामी या पराधीनता स्वीकार नहीं कर सकता है। भारतीय इतिहास पर अगर हम दृष्टि डालेंगे तो प्रतीत होगा कि आपकी पराधीनता का एकमात्र कारण स्वाभिमान का अभाव ही था। आपका जीवन स्वाश्रयी नहीं था, परावलम्बी और विलासी बन गया था।

आज के सभी लोग आर्थिक संकट में पड़े हुए हैं। जो लोग अपने हाथों से काम करते हैं वे आर्थिक संकट से भी बच जाते हैं। क्योंकि स्वाश्रयी जीवन का परिणाम सादगीमय जीवन के रूप में हमें मिलता है। स्वाश्रयी मनुष्य अपने हाथों से बनी हुई वस्तुओं का ही उपयोग करेगा। भोग विलास की सभी चीजें अपने हाथों से कौन बना सकेगा? अतः अनावश्यक चीजों की आवश्यकता वह सहज ही कम

कर देगा। फलतः उसका जीवन सादा बनेगा और वह आर्थिक संकट से मुक्त रहेगा।

जिनका जीवन कल कारखानों पर अवलंबित रहता है उनमें पराधीनता तो होती ही है। परन्तु इसके साथ साथ उनमें दीनता और गुलामी की भावना भी बढ़ती जाती है। फिर उनके जीवन में संयम के बदले विलासिता का रंग भी बढ़ता जाता है।

मशीनरी के साथ काम करने वाला मनुष्य भी यंत्रवत जड़ बन जाता है। इसके लिये आप मोटर और मोटर ड्राइवर की तुलना करके देखिये। उच्छृंखलता, उतावलापन, प्रमाद, लापरवाही और दूसरों को परेशान करने की जो वृत्ति मोटर में दिखाई पड़ती है वह मोटर ड्राइवर में भी आ जाती है। इसे आप कोरी कल्पना ही मत समझिये, परन्तु अनुभवियों द्वारा कहा गया एक नग्न सत्य मानियेगा। मशीनरी मनुष्य को जड़ और हृदय हीन बना रही है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज का महायुद्ध ही है।

आगामी महायुद्ध की तैयारियों में आज जो देश लगे हुए हैं उनमें से अधिकांश ईसाई धर्म के अनुयायी हैं। क्या ईसाई धर्म ने हिंसा को पाप और पाशविकता का लक्षण नहीं बताया है? फिर भी वे लड़ने की तैयारियाँ क्यों कर रहे हैं? इसीलिये कि यंत्रवाद ने उनकी मानवता का अपहरण कर लिया है।

गांधी जी यंत्रवाद के कट्टर विरोधी थे। वे स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी भारत में यंत्रों का अस्तित्व नहीं चाहते थे। उन्हें धीरे धीरे मिटाना चाहते थे। जब कि आज के कतिपय नेता गण कल-कारखानों का भारत में विकास चाहते हैं। महात्मागांधीजी ने यांत्रिक जीवन की जड़ता का पूर्ण अनुभव

किया था इसलिये वे यंत्रवाद के विरोधी थे। जो यंत्रवाद का प्रचार करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि यंत्रों से कदाचित् आर्थिक लाभ भले ही हो पर अन्य सभी दृष्टियों से वे मानवता का घात ही करते हैं।

गांधीजी की दृष्टि सत्य और दीर्घदर्शी थी। उन्होंने वर्तमान अधःपतन को खूब बारीकी से जान लिया था। भूत के समुज्ज्वल इतिहास को हृदयंगम कर उन्होंने समुज्ज्वल भविष्य का भी नक्शा खींच लिया था। इसलिये वे यंत्रवाद के विरोधी रहे थे।

धार्मिक दृष्टि से भीयंत्रवाद का निषेध होता है। क्योंकि वे यहाँ हिंसा के कारण हैं। जब कि गृहोद्योग में अल्पहिंसा होती है। अतः आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी यंत्रवाद को कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

आज बड़े-बड़े शहरों में पानी के नल लगे हुए हैं। सब लोग नल का ही पानी पीते हैं। लेकिन कभी नल टूट जाय तो उनकी क्या दशा हो? क्या कुओं से पानी खींच कर पीने वालों को भी कभी ऐसी दिक्कत हो सकती है? बटन दबाकर प्रकाश पाने वालों को पावर हाऊस में एक छोटी सी खराबी हो जाने पर भी अंधकार में पड़ा रहना पड़ता है। परन्तु मिट्टी का दीपक जलाने वाले को कोई चिन्ता नहीं रहती है।

मीलें युद्ध की सामग्री बनाने में लग जावें तो कपड़ा तैयार होना बंद हो जाता है। पहले का स्टॉक समाप्त हो जाने पर लोगों को दिगम्बर रहने का मौका आ सकता है। परन्तु हाथ से काते हुए सूत के कपड़े पहिनने वाले सदा इस भय से मुक्त रहते हैं। सारांश यह कि पराश्रित जीवन जीने वाला मनुष्य चारों तरफ से मुसीबत में पड़ा हुआ दिखाई पड़ता है जब कि स्वाश्रयी जीवन में दुख का नामोनिशान भी नहीं

होता है। स्वाश्रयी पुरुष ही अपना धार्मिक जीवन व्यतीत कर सकता है।

गीता में कहा है—मनुष्य को प्रतिदिन यज्ञ करके ही खाना चाहिये।' यहाँ यज्ञ का अर्थ है श्रम। परिश्रम किये विना किसी को खाने का अधिकार नहीं है। वृद्ध, रोगी, बालक और साधु को छोड़कर यह नियम सब पर लागू होता है। सच्चा साधु जो होता है वह कम से कम लेकर बदले में अधिक से अधिक देता है। बाह्य दृष्टि से भले ही कुछ परिश्रम करते हुए मालूम नहीं पड़ता हो, फिर भी वह जगत पर महान् उपकार करता रहता है। इसलिये वह विना परिश्रम के भी खाने का अधिकारी माना गया है। इस प्रकार वृद्ध, रोगी, बालक और साधु को छोड़ कर जो लोग परिश्रम किये विना ही खाते हैं वे सिद्धान्ततः पाप करते हैं, चोरी करते हैं।

एक अंग्रेज महिला ने अपनी कविता में सारी दुनिया के लोगों को केवल दो विभागों में विभक्त कर दिया है। वह कहती है 'सारी दुनिया में केवल दो ही तरह के लोग होते हैं। एक तो वे, जो दूसरों को अपने कंधों पर उठा कर चलते हैं, और दूसरे वे हैं जो दूसरों के कंधों पर चढ़ कर चलते हैं।' अब यह विचार कीजिये कि आप किस विभाग में आते हैं ? क्या कोई ऐसा भी है जो यह कहे कि 'मैं दूसरों को अपने कंधे पर लेकर चलने वाला हूँ ?'

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आप अनाज, कपड़ा आदि सभी वस्तुओं के लिये दूसरों के कंधों पर चढ़ कर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस महिला कवित्री ने तो आगे चल कर अपनी कविता में पाँच प्रतिशत मनुष्य ही

प्रथम श्रेणी में गिनाये हैं। परन्तु आज तो यह संख्या भी गलत साबित हो रही है। सारी दुनिया में एक प्रतिशत मनुष्य भी ऐसा न मिलेगा जो दूसरों को अपने कंधों पर लेकर चलता हो।

कई मनुष्य श्री मन्ताई के अभिमान में आज कई नौकर रखते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि नौकरों से काम कराना श्री मन्ताई नहीं है। श्री मन्ताई तो अपने हाथ से काम करने में है। लेकिन आज तो सर्वत्र नौकरों से ही काम कराया जाता है। घर में एक दिन 'घाटी' न हो तो घर का सारा काम ही चौपट हो जाता है। कैसी परवशता आज फैल गई है! 'दूसरों' से काम मत कराओ' ऐसा उपदेश देने वाले तो कई मिल जायँगे, पर इसे जीवन में उतारने वाले कितने मिलेंगे? आचार ही प्रचार का एक मात्र सिद्धान्त है, इस तत्त्व को प्रायः सभी भूल से गये हैं।

पृथ्वी की प्रदक्षिणा सब से जल्दी कौन कर सकता है? इसकी एक वार देव सभा में चर्चा हुई। देवों ने अपनी अपनी शक्ति-सामर्थ्यानुसार मन ही मन हिसाब लगाया और प्रदक्षिणा करने के लिये तैयार हो गये। शर्त यह ठहरी कि प्रदक्षिणा पूरी करके जो सबसे पहले विष्णुजी को नमस्कार करेगा वही विजयी समझा जायगा। हुक्म होते ही सभी देव दौड़ने लगे। लेकिन नारद जी चुपचाप अपनी वीणा बजाने में ही मस्त हो बैठे रहे। उन्होंने इस भाग-दौड़ में भाग नहीं लिया। कुछ देर बाद उन्होंने जब एक देव को हाँफते हुए आते देखा तो नारद जी ने उठ कर अपने आस पास एक चक्कर लगाया और फिर विष्णु जी को नमस्कार कर पुनः वीणा बजाने में लीन हो गये। धीरे धीरे सभी देव लौट आये तो

विष्णुजी ने इसका परिणाम घोषित करते हुए नारद जी को विजयी घोषित किया। यह सुन कर देवों में आश्चर्य फैल गया। तब विष्णुजी ने कहा—'यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे' जैसा पिंड में है वैसा ही ब्रह्माण्ड में है। इस सूत्रानुसार नारदजी ने सब से पहले पृथ्वी की प्रदक्षिणा पूरी की है।'

बंधुओ! हम सारी दुनिया को सुधारने का ठेका ले बैठते हैं, लेकिन दुनिया में हमारा भी तो समावेश हो जाता है, इस सीधे सादे सिद्धान्त को भी हम भूल जाते हैं। यही महान् दुख की बात है। दुनिया को सुधारने की बातें करने वालों को तो पहले अपनी आत्मा सुधारनी चाहिये। विना अपनी आत्मा को सुधारे दुनिया को सुधारने की बातें करना कोई गुड्डियों का सा हँसी खेल नहीं है।

ऊपर हम यह बता चुके हैं कि संयम, स्वतन्त्रता और प्रगति का प्रतीक स्वाश्रयी-स्वावलम्बी जीवन है। जिस राष्ट्र या समाज के लोगों का जीवन स्वाश्रयी नहीं होता, वह राष्ट्र या समाज पतन और अधोगति की ओर प्रयाण करता है। और धीरे-धीरे वे पराधीन होते जाते हैं। लेकिन स्वावलम्बी जीवन बिताने वाले राष्ट्र कभी पराधीन या गुलाम नहीं हो सकते।

इस प्रकार के स्वाश्रयी जीवन गुजारने वाले महापुरुषों के अनेक आदर्श हमारे सामने हैं। पूर्व और पश्चिम के इतिहास से ऐसे कई दृष्टान्त मिल सकते हैं।

संत फ्रांसिस नाम के एक ईसाई धर्म के साधु हो गये हैं। विना परिश्रम किये उनके आश्रम में कोई नहीं खा सकता था। यह उनके आश्रम का एक कठोर नियम था। पैसे जैसी चीज़ को वहाँ छूना भी पाप समझा जाता था। एक दिन की

बात है कुछ लोग वहाँ दर्शनार्थ आये। भूल से उनमें से किसी का एक पैसा वहाँ गिर पड़ा। जिसे एक शिष्य ने उठाकर ऊपर रख दिया। इस पर उस शिष्य को संत फ्रांसिस ने बहुत उपालंभ ही नहीं दिया बल्कि उससे वह पैसा अपने दाँतों से उठा कर बाहर डलवा दिया था।

संत फ्रांसिस के एक दूसरे शिष्य का नाम था जाइल्स। वह घरों में पानी भर कर भिक्षा लिया करता था। एक बार तो उसने मरे हुए मुर्दे उठा कर भी अपने नियम का पालन किया था। एक दिन वह कार्डिनल ( पोप के नीचे काम करने वाला धर्मगुरु ) के यहाँ मेहमान बना था। कार्डिनल जानता था कि जाइल्स बिना मेहनत किये भोजन नहीं करता है। उसने हँसी में कहा—जाइल्स, आज तुम कैसे खा सकोगे? जाइल्स ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया और वह सीधा रसोई घर में जा पहुँचा। वहाँ उसने रसोईघर को खूब साफ किया और फिर भोजन किया। कार्डिनल को यह मालूम भी नहीं हुआ, पर जाइल्स अपनी मजूरी ही खा रहा था।

जैन शास्त्रों में स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने के लिये पूणिया श्रावक का एक आदर्श दृष्टान्त आता है। पूणिया श्रावक ने अपनी सारी सम्पत्ति सार्वजनिक हित के लिये त्याग दी थी और स्वयं परिश्रम कर अपना जीवन निर्वाह करता था। उसका खान-पान सात्विक और नियमित था। प्रतिदिन दुपहर को वह भोजन के बाद एक सामायिक किया करता था।

एक दिन जब वह भोजन के बाद सामायिक करके बैठा हुआ था, तब उसका मन रोज की तरह सामायिक में स्थिर न रहा। नाना विचार उसके दिल में उठने लगे और वह

विह्वल हो उठा। रह-रह कर उसके मन में यह संदेह होने लगा कि कहीं आज मेरे पेट में अनीति का या बिना परिश्रम का अन्न तो नहीं चला गया है ? क्योंकि पूणिया यह जानता था कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।' इसलिये उसने सामायिक पूरी होते ही अपनी पत्नी से भोजन के बारे में पूछा।

बात यह हुई थी कि उस दिन पड़ौसी के यहाँ से कुछ खाद्य सामग्री आई थी, जिसे उसकी धर्मपत्नी ने पूणिया की थाली में परोस दी थी। जब यह बात उसकी धर्मपत्नी ने पूणिया से कही, तब वह बोला—'आर्ये ! बिना मेहनत का मिला हुआ एक दाना भी मुझे हजम नहीं हो सकता है।' इतना कह कर वह तत्क्षण उस पड़ौसी के घर गया और उसके घर का काम-काज कर जब तक उसके ऋण से मुक्त न हुआ, तब तक उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिली।

बन्धुओ ! एक तरफ तो पूणिया का जीवन देखिये और दूसरी तरफ आपका जीवन निहारिये ! आप तो रोजाना ही बिना मेहनत का खा रहे हैं। इसलिये आपके विकारों की भी कोई सीमा हो सकती है ? क्षण भर भी किसी को शान्ति नहीं है। कइयों की समझ तो ऐसी है कि हाथों से काम करना ही पाप होता है। चर्खा कातने में पाप होता है, इसलिये इसे न कातने की प्रतिज्ञा लेकर कई यह समझ बैठते हैं कि हम पाप से बच गये हैं। लेकिन उनका ऐसा समझना ठीक नहीं है। भले ही वे चर्खा न कातते हों, पर कपड़े तो पहिनते हैं न ? शुद्ध खादी के कपड़े पहिनने की अपेक्षा मील के वस्त्र पहिनने में ज्यादा हिंसा होती है। अतः चर्खा न कातने वाले भी उस महारंभ से थोड़े ही बच सकेंगे ? स्वयं काम न करके दूसरों से काम करवाने में विवेक नहीं रखा जा सकता है। बिना

विवेक के जो काम कराया जायगा उसमें तो और अधिक हिंसा होगी। अतः इन सब पापों से बचने के लिये केवल एक ही मार्ग है और वह यह कि जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हम अपने आप करना सीखें, किसी दूसरे पर अवलंबित न रहें।

संत फ्रांसिस जब एक बार बीमार हो गये थे तब उनको बड़ा स्वादिष्ट और गरिष्ट पदार्थ खाने को दिया गया था। रोज रूखा-सूखा खाने वाले को हजम कैसे हो सकता था? संत फ्रांसिस उसे खा तो गये, पर खाने के बाद उनके पश्चात्ताप की कोई सीमा न रही। उन्हें रह रह कर यह विचार आने लगा कि 'बिना परिश्रम किये ही मैं ऐसा मिष्ट और प्रिय पदार्थ क्यों खा गया? क्या इससे मेरा व्रत भंग नहीं हुआ है? उसने अपने शिष्यों से कहा -'शिष्यो, मुझे एक रस्सी से बाँध कर पशु की तरह घसीटते हुए शहर में ले चलो। मुझसे जो भयंकर भूल हुई है उसका यही प्रायश्चित हो सकता है।' शिष्यों ने आज्ञा का पालन किया। संत फ्रांसिस को इस तरह घसीटते हुए देख कर लोग आश्चर्य करने लगे। परन्तु संत फ्रांसिस ने कहा—'तुम मुझे तपस्वी समझते हो, लेकिन मैं तपस्वी नहीं, जिह्वा लोलुपी हूँ।' इस प्रकार उन्होंने अपने पाप का प्रायश्चित लिया था।

स्वाश्रयी जीवन जब तक आपका नहीं बनेगा तब तक आप दूसरों का पसीना बहाने के पाप से नहीं बच सकेंगे। शरीर का मैल साबुन से, कपड़े का मैल सोडा से और बरतन का मैल पानी से साफ किया जा सकता है। परन्तु देश या समाज पर जमा हुआ मैल तो स्वार्थ त्याग या पसीने से ही साफ किया जा सकता है। पानी या गंगाजल वहाँ काम नहीं देता है। आपके हाथों से जो सामाजिक और राष्ट्रीय अप-

राध हुए हैं उनसे मुक्त होने के लिये आपको अपने सर्वस्व का त्याग करना ही पड़ेगा। बिना इसके आप अपने अपराधों से मुक्त नहीं हो सकेंगे।

देश के खातिर आत्म-बलिदान देकर भी प्रायश्चित करने वालों के दृष्टान्त आपके सामने मौजूद हैं। बाबु गनु, भगतसिंह, गणेशशंकर विद्यार्थी और सुभाष आदि इन्हीं शहीदों में से हैं। लेकिन यह जरा कठिन बात है। अपना बलिदान देना उतना सरल काम नहीं है जितना कि पसीना बहाना, श्रम करना आसान काम है। इसके लिये किसी के पास जाना नहीं पड़ता है। इसीलिये गांधीजी भी गृह उद्योगों पर अधिक जोर दिया करते थे। स्वाश्रयी जीवन से आलस्य जनित पाप नष्ट हो जाते हैं। गृह उद्योगों से स्वावलम्बी जीवन तो बनता ही है, पर इसके साथ-साथ सादगी का भी महान् लाभ होता है।

गृह उद्योगों से ग़रीब और श्रीमन्त के भेद-भाव दूर हो जाते हैं। आपस में प्रेम और ऐक्य की वृद्धि होती है। आज भी बहिनें एक साथ मिल कर गृहोद्योग को अपनावें तो ऐक्य की वृद्धि ही होगी।

शहरों में आपके मकान के पास कौन रहता है? इसका भी पता नहीं रहता है। तब फिर उनकी स्थिति का तो भान ही कैसे हो सकता है? एक दीवाल के अन्तर से ही दो हृदयों का यह कैसा अन्तर हो गया है? जीवन मशीन सा बन गया है जिससे आपको पड़ौसी के सुख-दुख को जानने की भी फुरसत नहीं है। इस मर्ज की रामबाण दवा गृहोद्योग ही है। पड़ौसी धर्म को निभाने के लिये आपको हाथ-कार्य अवश्य खोज लेना चाहिये।

गाँव में बड़े घराने की लड़की भी नाई या कुम्हार को 'चाचाजी' कह कर पुकारेगी। वह उनका कुटुम्बी जनों जैसा सम्मान करेगी। वहाँ जो प्रेम है वह शहरों में कहाँ है? गृहोद्योग से ऐसा प्रेम शहरों में भी पैदा किया जा सकता है

हमारी साधु संस्था के लिए भी स्वावलम्बी जीवन यापन करने का नियम है। हम अपना काम दूसरों से नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इसमें हिंसा होती है। साधु के नियम पूर्ण अहिंसा की दृष्टि से घड़े गये हैं, जब कि गृहस्थों के लिए अमुक छूट रखी गई है। अतः पूर्ण रूप से नहीं आंशिक रूप से ही गृहस्थों को अपने नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये। पानी के गिलास के लिये भी नौकर को कहना पड़े इतनी पराधीनता उचित नहीं है। भले ही घर में नौकर हों, पर उन्हें भी थोड़ा आराम देकर कुछ काम अपने हाथों से करने की आदत डालनी चाहिये। इससे नौकरों में भी विवेक पैदा होगा। अगर आप अपना स्वाश्रयी जीवन बना सकेंगे तो भारत की नव प्राप्त स्वतन्त्रता को कायम रख कर उसका पूर्व गौरव अक्षुण्ण रख सकेंगे।

# मिट्टी को सोना बनादो

जापान के लिये कहा जाता है कि वह मिट्टी में से सोना बनाने वाला मुल्क है। हमारा देह भी मिट्टी जैसा है, और इस मिट्टी से सोना बनाना यही हमारे जीवन का ध्येय होना चाहिये। धर्म के आचरण से हम अपने इस वांछित ध्येय की पूर्ति कर सकते हैं। लेकिन इस धर्म की शुरूआत उल्टी न होकर सीधी होनी चाहिये। यानी मानव सेवा से होनी चाहिये। मानव सेवा में इन्सान को लीन हो जाना चाहिए कि वह जो करे उसका उसे भान तक न रहे। सूर्य प्रतिदिन प्रकाश देता है, पर वह अपनी सेवा के लिये मान-पत्र की कामना नहीं करता है। हजारों वर्षों से जैसे वह अपना सेवा कार्य करता आ रहा है वैसे ही मानव का सेवा कार्य भी अविरत चालू ही रहना चाहिये।

माँ बालक की सेवा करती है, एक वर्ष तक नहीं, पच्चीस वर्ष तक करती है। लेकिन कोई उसकी रिपोर्ट माँगे तो वह क्या कहेगी? मैंने तो कुछ नहीं किया भाई। सेवा परायण माँ यही जवाब देगी। जो माता स्वयं गीले में सोकर अपने बालक को सूखे में सुलाती है, खुद भूख-प्यास सहन कर बालक को खिलाती-पिलाती है, वही माँ रिपोर्ट देते समय कहे कि मैंने तो कुछ नहीं किया है, यह उसकी कितनी उत्कृष्ट सेवा है? परन्तु आज के मानव की कैसी विपरीत दशा हो गई है! वह आज थोड़ी-सी सेवा करके भी बड़ी-

बड़ी रिपोर्ट छपवाने में और अपनी तारीफ के पुल बाँधने में पीछे नहीं रहता है।

मानव आज भगवान् पर फूल चढ़ा कर बड़ा खुश होता है। परन्तु वास्तव में ऐसे पुष्प न चढ़ा कर, सेवा के पुष्प चढ़ाने चाहियें। इसी में उसकी सार्थकता भी है। महात्मा जी मरे, तो लाखों मनुष्यों ने अपने आँसू बहाये थे। ऐसा क्या था उनमें ? यही सेवा का पुष्प था उनमें, जिसके खातिर उन्होंने मृत्यु भी हँसते-हँसते स्वीकार की थी। ग्रीस के सोक्रेटीस को जब जहर का प्याला दिया गया था तब उसने भी कहा था कि 'मुझे मौत से डर नहीं है।' महापुरुषों के लिये तो मृत्यु भी महोत्सव के रूप में होती है। क्योंकि उनके जीवन में सेवा का पुष्प खिला हुआ होता है। अतः सेवा का कार्य स्वीकार कर अपने जीवन को स्वर्णमय बना देना चाहिये। अन्यथा इस जिन्दगी को मिट्टी में मिलते देर नहीं लगेगी।

फूल सुगन्ध देते हैं और तारागण प्रकाश देते हैं। पर उन्हें खबर नहीं रहती है कि मेरी सुगन्ध दूसरे लेते हैं, मेरा प्रकाश दूसरा लेते हैं। इसी तरह मानव भी अपनी सेवा अहर्निश बजाता ही रहे तो उसकी जिन्दगी भी सोने जैसी बन सकती है। लेकिन आज ऐसी सेवा कहाँ दृग्गोचर होती है। सेवा में स्वार्थ घुस गया है। बिना मतलब के कोई काम ही नहीं किया जाता है। अपने स्वार्थ के पीछे पागल होकर मनुष्य कैसा अनर्थ कर डालता है, यह इस छोटी सी कथा से आप जान सकेंगे।

काशी की महारानी एक बार नदी के किनारे स्नान करना चाहती थी। राजा ने इसके लिये सब व्यवस्था करवा दी किनारे के झोंपड़े भी खाली करवा दिये गये। रानी

सौ दासियों के साथ नदी के किनारे जाती है और खूब हँसी मजाक करते हुए स्नान करती है। जब वह स्नान कर बाहर निकलती है तो रानी को बड़ी ठंड लगती है। दासियाँ ईंधन जलाने के लिये खोजतीं हैं, पर वह कहीं नहीं मिलता है। रानी ठंड के मारे काँप रही थी। उसने कहा—लकड़ियाँ नहीं मिलतीं हैं तो तुम इस झोंपड़ी को ही क्यों नहीं जला डालती हो? यह सुनकर एक दासी ने कहा—महारानी ये गरीबों की झोंपड़ियाँ हैं। एक के जलते ही सब राख हो जायँगी अतः इन झोंपड़ियों को हमें नहीं जलाना चाहिये। परन्तु रानी न मानी। उसने एक झोंपड़ी में आग लगा दी। फिर क्या था? वह घास-फूस की ही तो थी। धीरे-धीरे सब झोंपड़ियाँ जलकर राख हो गईं। रानी की ठंड दूर हुई और वह महल में आई। इधर झोंपड़ियों वाले भी राजा के पास पहुँचे और फरियाद करते हुए बोले—महाराज हमें रानी जी ने निराधार बना दिया है। हमारे जो एक मात्र आधार थे, उन सब झोंपड़ों की रानी जी ने राख करवा दी है। अब हम कहाँ खावें और कहाँ रहें?

राजा न्यायी था। उसे रानी की हरकत पर बड़ा क्रोध आया। वह महल में आया और रानी से बोला—'तुमने उन गरीबों की झोंपड़ियाँ क्यों जला दीं? क्या तुम्हें मालूम नहीं था कि उन झोंपड़ियों में कितने स्त्री पुरुष अपनी सुख की नींद सोते थे? रानी ने कहा—'उन गंदे झोंपड़ों में भी क्या कोई रह सकता है?' राजा ने कहा—हाँ, उनमें रहने वालों को वे झोंपड़े हमारे राज महलों से भी ज्यादा प्यारे थे। तुमने उनको जला कर महान् अपराध किया है। अब तुम इसी समय वहाँ जाओ और उन झोंपड़ों का पुनर्निर्माण कराओ। अन्यथा तुम्हें मेरे महलों में पैर रखने का भी

अधिकार नहीं होगा। राजा ने न्याय दे दिया। रानी को अपनी भूल मालूम हो गई कि मैंने अपने विलास के लिये उन गरीबों का बड़ा अहित कर दिया है। उसने इसके लिये राजा से क्षमा माँगी और पुनः वे झोंपड़े वहाँ बनवा दिये गये। यहाँ कहने का इससे इतना ही तात्पर्य है कि जब इन्सान अपने स्वार्थ और विलास के खातिर दूसरों के नुकसान का ख्याल नहीं करता है, तब वह अपनी सुवर्ण जिन्दगी को उस क्षणिक विलास के सुख में—स्वार्थ के मोह में, मिट्टी में मिला देता है।

गरीबों को रोज रोज अपनी नौकरी का पैसा अपने सेठों से लेना पड़ता है। क्योंकि ऐसा न करें तो उनका काम नहीं चलता है। एक रोज भी अगर उन्हें अपनी नौकरी का पैसा न मिले तो उनका हाल—बेहाल हो जाता है। लेकिन किसी दिन सेठ अपने मित्र से बातें करने में लगा हो, हँसी-दिल्लगी कर रहा हो और नौकर पैसा लेने के लिये आगया हो तो उस समय सेठ अपनी बातों को एक मिनिट के लिये भी बंद कर उसे पैसा देना नहीं चाहता है, और कह देता है, कल ले लेना। सेठ के ऐसा कहने से गरीबों को कितना नुकसान होता होगा? उसके बाल-बच्चे भूखे रहेंगे, क्या इसका भी कोई विचार करता होगा? सामने वाले की स्थिति का आज कौन विचार करता है? लेकिन अगर आप ऐसा विवेक नहीं रखेंगे तो धर्म का आराधन हरगिज नहीं कर सकेंगे। इसे याद रखिये धर्म उपयोग में ही है। 'केवली प्ररूपित धर्म का शरण' जो हम कहते हैं, वह और कहीं नहीं, विवेकमय धर्म में ही है। मानव लाचारी से आपका काम करता है, पर आप उसे कम से कम वेतन देकर रखते हैं। वह अपने पेट के लिये आपका नौकर रहता है, लेकिन

आप उसे अपने स्वार्थ का ख्याल रख कर कम पगार दें तो इससे अधिक आपकी हीनता और क्या होगी? अपने तुच्छ स्वार्थ के खातिर उसका तथा उसके कुटुम्बी जन का जो अहित होता है, क्या उसका आपको ख्याल भी आता है? अतएव दूसरों के अहित से भी सदैव सचेत रहना चाहिये। कई बार आपकी उतावल से भी दूसरों का नुकसान हो जाता है। सिनेमा जाने की जल्दी में मोटर से कई बार एक्सीडेन्ट हो जाता है। अतः आपको अपना विवेक सतत जागृत रखना चाहिये। इसीसे आप धर्म कर सकेंगे, यह नहीं भूल जाना चाहिये। केवल उपाश्रय में आने से ही धर्म नहीं होने वाला है, परन्तु विवेक को सदा जागृत रखना ही धर्म है। धर्म की शुरूआत मानव-सेवा से होनी चाहिये और फिर वह क्रमशः बढ़ते बढ़ते पशु-पत्ती और स्थावर-विकलेन्द्रिय जीवों तक जाना चाहिये। इस क्रम से अगर मानव चलना शुरू करदे तो वह अपनी इस माटी सी देह को भी कंचन में परिणत कर जीवन सफल कर सकता है।
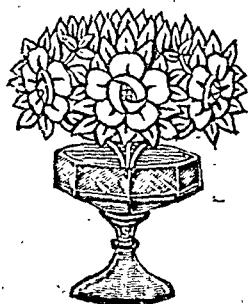
# अपने मन को निर्मल बनाओ

मनुष्य को सब सुख मिले हों—पैसे हों, सुखी कुटुम्ब हो, मित्र आदि भी हों, पर स्वास्थ्य ठीक न हो तो क्या वे सुख, सुखरूप हो सकते हैं ? नहीं। एक शरीर सुख के अभाव में अन्य सब सुख अच्छे नहीं लगते हैं। तभी तो कहा गया है—'पहला सुख निरोगी काया।'

मानव, शरीर के लिए हजारों रुपया खर्च कर देता है और समय आने पर अपने सर्वस्व का भी भोग दे देता है। पर क्या वह अपने मन के स्वास्थ्य के लिए भी कुछ करता है ? क्यों नहीं करता ? मन का स्वास्थ्य तो शरीर के स्वास्थ्य से भी ज्यादा ज़रूरी है। क्योंकि मन स्वस्थ होगा तो शरीर भी स्वस्थ ही रहेगा। लेकिन आज ऐसा कौन करता है ? शारीरिक बीमारियों के पीछे मानव आज जितना व्यय कर रहे हैं उतना यदि मन की बीमारी दूर करने के लिये किया होता तो वे अब तक इन दुखों से ही मुक्त हो गये होते।

जैसे-जैसे दुनिया में शारीरिक रोग बढ़े हैं वैसे-वैसे मन की वेदना भी बढ़ी है और डाक्टर भी बढ़ते गये हैं। शारीरिक वेदना से मन की वेदना कुछ कम दुखदायी नहीं होती है। शरीर स्वास्थ्य के लिये जैसे अनेक औषधियाँ होती हैं वैसे ही मन को ठीक रखने के लिये भी अनेक औषधियाँ हैं। जिनमें से एक औषधि है 'धर्म'। शरीर के डाक्टर जैसे

औषधि बताते हैं वैसे ही मन के डाक्टर भी औषधि बताते हैं। मन के डाक्टरों ने बताया है कि इन्सान धर्म का सेवन करे तो सब दुखों से मुक्त हो सकता है। अब, यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि हम मन के डाक्टरों की इस रामबाण दवा का कई अर्से से सेवन करते चले आ रहे हैं, फिर भी मर्ज घटने के बजाय बढ़ता क्यों चला जा रहा है? बीमारी मिटती क्यों नहीं है? इसका उत्तर इतना ही समझ लेना चाहिये कि हमारी धर्म सेवन की क्रिया में कहीं न्यूनता अवश्य है। अन्यथा यह हो नहीं सकता कि हम भोजन तो करें, पर भूख न मिटे। हम भोजन करें, पर पेट की भूख न मिटे तो भोजन में ही कुछ कमी है, यह जैसे स्पष्ट है, वैसे ही धर्म सेवन से भी अगर मन की तृप्ति न होती हो तो समझ लो कि हमारी क्रिया में ही कहीं न्यूनता है। धर्म की कसौटी ही यह है कि मन को शान्त करना। धर्म की दवा गले में उतर जाने पर तो मन की वेदना मिटनी ही चाहिये। ऐसी यह अचूक दवा होती है। फिर भी आज कुछ मानव और विशेषत: रसिया के लोग धर्म से बड़े चिढ़ते हैं। वे कहते हैं 'धर्म ने जितने मानवों का संहार किया है उतना किसी ने नहीं किया है। इस्लाम ने छोटे-छोटे बच्चों का खून किया। यूरोप में जब प्रोटेस्टेन्ट धर्म की शुरुआत हुई तो पुराने धर्म वालों ने इनके प्रचारकों को और छोटे-छोटे बालकों को गरम-गरम तवे पर सेक (भून) दिये थे। धर्म अगर ऐसे अनर्थ करता हो तो फिर ऐसे धर्म की क्या जरूरत है? धर्म से दो तरह का वातावरण पैदा हो जाता है। प्रथम, वह मानव को बाँध देता है—जड़ बना देता है। दूसरा, वह मानव को क्रूर और विकराल बना देता है।'

लेकिन सच बात यह है कि धर्म मानव को बाँधता नहीं,

मुक्त बनाता है, क्रूर नहीं, दयालु बनाता है। परन्तु धर्म का विकार मानव को क्रूर और जड़ बना देता है।

कई एक रोग ऐसे होते हैं जो हवा और पानी से पैदा होते हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हवा और पानी लेना ही बन्द कर दिया जाय। रोगों से बचने के लिये अशुद्ध हवा और पानी नहीं लेना चाहिये। पर जैसे शुद्ध हवा और पानी लेना बुद्धिमानी है वैसे ही धर्म के विकारों को छोड़कर धर्म के असली स्वरूप को अपनाने में ही बुद्धिमानी है। धर्म के नाम पर कौन मजहब ऐसा है जो यह कहता हो कि तुम मानव का खून करो। इस्लाम की कुरान में क्या कहीं मानव का खून करना लिखा है ?

धर्म के मूल में तीन विभाग होते हैं आचार, कथा और सैद्धान्तिक विभाग। आचार-विचार हर एक धर्म के अलग-अलग हो सकते हैं, पर मूल एक ही रहता है। मुझे अमुक वस्तु अच्छी लगती हो, पर दूसरों को वह अच्छी न लगे, यह स्वाभाविक है। लेकिन इससे भेद कर देना बुद्धिमानी नहीं है।

कथानुयोग—कथाओं में भी मतभेद हो सकता है, पर उनका उद्देश्य जो धर्म प्रचार करना होता है वह सबका समान होता है। समयानुसार उनमें परिवर्तन होता ही रहता है।

सैद्धान्तिक विभाग—सब धर्मों के मूल सिद्धान्त प्रायः एक से ही होते हैं। हमारे हिंद के सभी धर्मों का जैन, बौद्ध, वैदिक आदि का एक ही ध्येय तो है, मोक्ष। साधन भी प्रायः समान ही हैं। हिमालय से गंगा निकलती है, पर मिलती कहाँ है ? समुद्र में। नदियाँ कहीं से भी क्यों नहीं

निकलती हों, पर उन सबका उद्गम और अन्त एक-सा ही होता है। ऐसे ही हमारे धर्मों का भी उद्गम और अन्त एक-सा ही है। वे आत्मनिष्ठा में से निकलते हैं और मोक्ष में जाकर विलीन हो जाते हैं। साधन भी प्रायः सबके एक से होते हैं। राग-द्वेष से छूटना कौन धर्म नहीं चाहता है? इनके आचार-विचार सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करना क्या कोई धर्म नहीं मानता है? तो फिर लड़ने झगड़ने का कारण क्या है? हम दो साध्वियाँ अपनी अपनी योग्यतानुसार धर्म क्रियाएँ करें, पर क्या इससे हम दोनों में अन्तर हो सकता है? धर्म के साधनों में अन्तर होने से आपस में मतभेद कर देना कहाँ की बुद्धिमानी है? धर्म कभी ईर्षा-द्वेष रखना नहीं सिखाता है। जो मन को मैला रखे वह धर्म नहीं हो सकता है। भले ही मनुष्य के पास लाखों रुपये हों, पर मन का स्वास्थ्य ठीक न हो तो वह दुःखी ही है।

जब कभी दो आदमी मिलते हैं तो शरीर स्वास्थ्य के बारे में कुशल पूछते हैं। पर कभी मन के स्वास्थ्य के लिये भी कोई पूछते हैं? शरीर बिगड़ा कि हम डाक्टर के पास जाते हैं, पर जब मन बिगड़ा हुआ हो तो क्या कोई मन के डाक्टर के पास भी जाकर बैठते हैं? मन को सुधारने वाला सद्धर्म कभी हानिकारक नहीं होता है। आपको सद्भाग्य से ऐसा सद्धर्म मिला है और उसका सेवन करने के लिये श्रावक जीवन भी मिला हुआ है। अगर आप ऐसे समय में भी धर्म का सेवन नहीं करेंगे तो याद रखिये एक दिन काल-कुत्ता आकर आपको यमपुरी में ले चला जायगा। पुराणों में इस काल कुत्ते का एक बड़ा सुन्दर रूपक आया है।

एक समय इन्द्र अपनी अमरावती में नये देवों की संख्या

बहुत कम देखते हैं। मर्त्यलोक से कोई देवलोक में क्यों नहीं आता है? इसका जब इन्द्र ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि मर्त्यलोक से सभी मानव मर-मर कर नरक में ही जा रहे हैं। इससे इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा अगर यही स्थिति रही तो कुछ ही दिनों में देव लोक सूना हो जायगा। अतः उसने मर्त्यलोक में आकर देवलोक का सन्देश सुनाने का तय किया।

साधारण मानव भय और लालच से धर्म पर स्थिर रहता है। जैसा कि कहा जाता है—'धर्म करोगे तो स्वर्ग के सुख भोगोगे और अधर्म करोगे तो नरक में गिरोगे'। आज की सरकार भी यही दो उपाय काम में लेती है। वह कहती है—नागरिक बनोगे तो जे० पी० की डिग्री पाओगे नहीं तो दंड का भागी बनना पड़ेगा। इन्द्र ने भी यही उपाय सोचा। उसने एक देव को बुलाया और उसको एक भयंकर कुत्ते का रूप धारण कराया। इन्द्र ने स्वयं मानव का डरावना काला रूप धारण किया और वह उस कुत्ते को लेकर मर्त्य लोक में आया। पृथ्वी पर आते ही इन्द्र चिल्लाता है—प्रलय होगा प्रलय होगा, प्रलय होगा। इस प्रकार वह तीन बार कहता है और फिर वह कुत्ता भौंकता है। प्रजा यह देखकर घबरा जाती है और अपने राजा के पास आकर शिकायत करती है। राजा अपनी नगरी के सब द्वार बन्द करवा देता है। परन्तु वह इन्द्र और कुत्ता उन दरवाजों को भी लांघ कर भीतर आ जाते हैं और सीधे राजमहल में जाकर खड़े हो जाते हैं। कुत्ता रह रह कर भौंकता रहता है। तब राजा इन्द्र से कहता है—हे योगी! तेरा यह कुत्ता क्यों भौंकता है? इन्द्र ने कहा—राजन्! यह बहुत भूखा है। राजा ने अपने यहाँ का सारा भोजन उसे खिला दिया, यहाँ तक कि

हाथी और घोड़ों का खाना भी उसे खिला दिया गया, पर फिर भी उसका भोंकना बन्द नहीं हुआ। उसकी भूख नहीं मिटी। तब राजा ने कहा—योगी, तेरा कुत्ता यहाँ क्यों आया है? इसने इतना खा लिया फिर भी इसकी भूख क्यों नहीं मिटी है? इन्द्र ने कहा—यह कुत्ता दंड देने के लिये यहाँ आया है। बिना दंड दिये इसकी भूख नहीं मिट सकेगी। राजा ने कहा किसको दंड देने के लिये आया है? इन्द्र ने कहा—जो साधु, साधु बनकर भी मानवों का कल्याण नहीं करते हैं, जो धनवान अपना धन गरीबों के लिये खर्च नहीं करते हैं, जो नेता अपने देश का कल्याण न कर अपने स्वार्थ का पोषण करते हैं, जो पुत्र अपने माता-पिता की सेवा नहीं करता है, जो इन्सान अपने धर्म और नीति का पालन नहीं करता है, उनको मेरा यह कुत्ता दन्ड देने के लिये आया है। यह सुनकर राजा और प्रजा दोनों उस योगी से कहते हैं—'अबसे हम अपने धर्म पर चलेंगे और नीति का पालन करेंगे। इस बार हमें क्षमा कर दो। भविष्य में हम कभी अधर्म का आचरण नहीं करेंगे।' इन्द्र यही चाहता था, वह इस प्रकार लोगों को सावधान कर स्वर्ग में चला गया। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अगर हम धर्म का आचरण करेंगे और तन की तरह मन को भी स्वस्थ रखेंगे तो फिर हमें काल कुत्ता भयभीत नहीं कर सकेगा। तब हम अपना तथा समाज का कल्याण कर सकेंगे।

# खादी और जैन धर्म

अमेरिका में प्रेअरिज नाम की घास के बड़े-बड़े खेत होते हैं। मीलों तक छाया हुआ यह घास अनेक भयंकर जानवरों को छिपाये रखता है जिनमें से होकर गुजरना बड़ा मुश्किल हो जाता है। साथ में आग का भी सबसे बड़ा भय रहता है। ऐसे घास के घने जंगलों में कहीं भी आग क्यों न लगी हो, उसकी लपटें प्रवासी तक पहुँचने में देरी नहीं करती हैं। ऐसे समय में यात्री भागना भी चाहे तो भाग नहीं सकता है। क्योंकि घास में मार्ग दीखना कठिन होता है, फिर भी जैसे-तैसे भागे तो खतरा ही रहता है। क्योंकि हवा का झोंका लगते ही आग की लपटें उस तक पहुँच जायँगी। अतः ऐसे समय में यदि यात्री के लिये जीवन रक्षण का कोई उपाय शेष रहता है तो वह यही कि जिस स्थान पर वह खड़ा है उस जगह को और उसके आस-पास की जगह को वह अधिक से अधिक जितनी साफ कर सके कर डाले। क्योंकि जहाँ घास रहेगी वहाँ ही आग का भी भय रहेगा। परन्तु जहाँ घास ही न होगी तो फिर वहाँ आग भी स्वतःशांत हो जायगी। उसका भय नहीं रहेगा। जैसा कि गीता में भी कहा गया है—

'अतृणे पतिते वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'

आज विश्व व्यापी हिंसा की ज्वालाएँ सर्वत्र फैली हुई हैं और हमारे नजदीक भी आने लगी हैं। क्या हम जैनधर्म के अनुयायी, अहिंसा के उपासक और उपदेशक, महावीर के

पुजारी इस हिंसा की आग में जल जायँगे ? क्या हम जैनधर्म रूपी महल की अहिंसा रूपी नींव को हिला देंगे ? या हम घास को दूर कर हिंसा की ज्वालाओं से बचने की बुद्धिमत्ता दिखायँगे ?

प्रिय बन्धुओ ! आज तो मुझे इस धर्म स्थानक में भी वही बात दिखाई पड़ रही है। यहाँ भी घास के सहारे ज्वालाएँ आती हुई दिखाई देती हैं। जिससे हमारा यह धर्मस्थानक भी आज हिंसा की ज्वालाओं से अछूता नहीं रह पाया है। आप आश्चर्य करेंगे कि मैं यह क्या कह रही हूँ ? आप सोचने लगेंगे कि हम तो यहाँ सामायिकादिव्रत अंगीकार कर बैठे हुए व्याख्यान श्रवण कर रहे हैं। फिर यहाँ आग कैसी ? सामायिक में तो आग का संघट्टा ( छू जाना ) भी नहीं कल्पता है लेकिन मेरा मतलब आप जो आग समझ रहे हैं उससे नहीं है। इस आग का तो अकस्मात स्पर्श भी हो जाय तो बहुत कम पाप के आप भागी बनेंगे, परन्तु जिस आग की लपटों में आप लिपटे हुए हैं वह तो महाभयंकर आग है। उसका पाप साधारण नहीं है।

आपको अब अधिक आश्चर्य में न डालते हुए मैं यह स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि उस महाहिंसा की भयंकर ज्वालाएँ आपके इन चरबी के चटकीले-मटकीले वस्त्रों में समाई हुई हैं। मील के वस्त्रों में छः ही कायों की हिंसा होती है। जिसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों का वध होता हो, वे क्या अपने शरीर पर शोभा दे सकते हैं ? आप कहेंगे, छः कायों की हिंसा कैसे होती है ? उसको भी समझ लीजिये। मीलों के लिये कई फर्लाङ्ग लम्बी जमीन रोकी जाती है, जिसमें पृथ्वी-काय की हिंसा तो स्पष्ट है, पानी और अग्नि के बिना स्टीम

( भाप ) नहीं बनती है इसलिये 'आप' और 'तेज' की तथा मील चलाने में वायु की हिंसा भी प्रत्यक्ष ही है। मील बनाते समय कई वृक्ष भी कटवाये जाते हैं इसलिये 'वनस्पति' की हिंसा भी होती ही है। कीड़े-मकोड़े आदि विकलेन्द्रिय जीवों की हिंसा का तो कोई ठिकाना ही नहीं रहता है। चरबी के लिये और चमड़ों के पट्टों के लिये पशुओं की हिंसा भी की जाती है। अब रही मानव हिंसा की बात, सो यह भी तनिक गहराई से सोचेंगे तो जान सकेंगे।

चरखे से १५० आदमी जितना काम करते हैं उतना ही काम मील में एक आदमी कर लेता है। इससे मील का एक आदमी १४६ आदमियों को बेकार कर देता है। इस प्रकार ये सैकड़ों मीलें करोड़ों की रोटी-आजीविका छीन कर बेकार बनाती हैं। इनकी आजीविका पर ही जिनका निर्वाह होता है, बेकार हो जाने से, उनके करोड़ों अबोध बाल-बच्चे और स्त्रियाँ भी भूख से व्याकुल हो अकाल में ही काल कवलित हो जाती हैं। क्या यह भयंकर मानव हिंसा नहीं है? अब इस मील के मजदूर का भी तनिक विचार कीजिये। दिन भर मील की गंदी हवा में काम करने से और मशीनों की धूल फैफड़ों में चली जाने से वह अपना स्वास्थ्य भी खो बैठता है। इस प्रकार वह जीवित रहते हुए भी मृत्यु के मुख में चला जाता है। मीलों में काम करने वाली बहिनें अपने व्रत की रक्षा बड़ी कठिनाई से कर पाती हैं। अधिकांश वे अपने व्रत से च्युत हो जाती हैं। क्या यह मानव हिंसा नहीं है? यह तो मानव हिंसा के एक पहलू पर ही विचार हुआ। अब जरा दूसरे पहलू पर भी विचार कीजिये।

मीलों लम्बी खेतों की जमीन मशीन द्वारा रोकी जाने

से खेती की उत्पत्ति कम होती है। दूसरी बात पृथ्वी में हमेशा कचरा साफ करने की क्रिया होती है, जिसको मशीन रोक देती है। यह भी खेती की ही हानि है। और खेती का नुकसान मानव जाति के लिये श्राप रूप है।

मील के कपड़ों की बिक्री से जो अर्थ-लाभ होता है वह मील मालिक को ही होता है। उसके लिये यह पैसा जहर का काम करता है। उन पैसों से वह विषय भोग भोग कर अपने लिये नरक का द्वार खोल लेता है। ऊपर बताई गई, हिंसाएँ तो एक भव आश्रित ही होती हैं, परन्तु श्रीमन्तों द्वारा होने वाली हिंसा तो भवोभव आश्रित होती है। उसमें जैन धर्म कैसे सहयोग दे सकता है?

गीता में कहा है—'दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्' भरपेट खाये हुए को खिलाने से तो उसे बदहजमी हो जायगी और खाद्य पदार्थ का दुर्व्यय भी होगा। लेकिन जो भूख से तड़पड़ा रहा हो उसे अन्न देने से पुण्य लाभ के साथ साथ अन्न का सदुपयोग भी हो सकेगा। यह बात इतनी स्पष्ट होते हुए भी आप इसे आज भूल गये हैं और आँखें होते हुए भी अंधे बन कर श्रीमन्तों की तिजोरियाँ भरते जा रहे हैं। और यह भी गरीबों को सता कर, उनके पेट पर लात मार करके भला इससे बड़ी हिंसा और क्या हो सकती है?

मील के वस्त्र इन्हीं भयंकर हिंसाओं के प्रतीक हैं, इसी लिये मैंने कहा कि विश्व व्यापी हिंसा की ज्वालाएँ हमारे धर्मस्थानकों तक भी पहुँच चुकी हैं। इसे शान्त करने का एक मात्र उपाय यही है कि हम इन वस्त्रों को छोड़ कर शुद्ध खादी के पवित्र वस्त्र धारण करें। खादी जैनधर्म के मूल-

भूत सिद्धान्तों का वाह्य चिह्न रूप है। इसलिये खादी की पवित्र पोशाक को हमें जैनियों का वाह्य लिंग समझ लेना चाहिये।

आज का विषय है 'खादी और जैनधर्म।' खादी पर आज कुछ बोलना मेरे लिये शर्म की बात हो सकती है तो आप के लिये अपमान की। क्योंकि आज हम जिसे जैनेतर कहने का साहस करते हैं, जरा गहरे उतर कर विचार करें तो मालूम होगा कि जैनेतर हम हैं, या वे हैं? जिन्हें हम जैनेतर कहते हैं उन्होंने तो अहिंसा धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी समर्पित करने की तैयारी कर रखी है। तब हम जैनियों को आज भी अपने योग्य कौनसी पोशाक है? इसका उपदेश देना पड़े तो क्या यह लज्जास्पद नहीं है? आज से तीस या चालीस वर्ष पहले, जब से हमें यह भान हुआ या भान कराया गया। कि मील के वस्त्रों में हिंसा होती है, तब से ही जैनियों को खादी के वस्त्र धारण कर लेना चाहिये था। आपके लिये जैसे आज मांस मदिरा त्याग के उपदेश की जरूरत नहीं है वैसे ही खादी पहनो, इस उपदेश की भी आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये थी। जो लोग वायु काय की हिंसा टालने के लिये मुँह पर वस्त्रिका बाँधते हैं क्या वे ऐसे महाहिंसक वस्त्र पहिन सकते हैं?

जीव दया के लिये मुँह पर मुँहपत्ति हो और शरीर पर जीव हिंसा से तैयार किये गये चरवी के वस्त्र हों तो क्या यह 'मुँह में राम बगल में छुरी' वाली कहावत को चरितार्थ नहीं करता है? खरगोश को मार कर उसके रोओं से बनाई नरम 'पूंजणी' से कीड़ी-मकोड़ी की दया पालने वाला व्यक्ति जितना दया पात्र है, उतना ही चरवी से सनी हुई मुख

वस्त्रिका बाँधने वाला भी दया पात्र है। यह तो कुत्ता निकाल ऊँट को बैठाने जैसी बात हुई। वायुकाय के रक्षक बनने के बजाय छः ही कायों के भक्षक बन बैठे? अतः लीलोती, विगय आदि के पच्चक्खाण लेने से पहिले मील के वस्त्रों का त्याग करने का पच्चक्खाण लेना चाहिये। सामायिक में एक छोटासा अनजान बच्चा छू जाय तो संघट्टा होने का शोर मचा दिया जाता है, उससे भी ज्यादा शोर मील के वस्त्रों को छू जाने पर—संघट्टाहो जाने पर मचाना चाहिये। लेकिन आज यह कैसे हो सकता है? हमारी अहिंसा भी तो बौद्धों की तरह विकृत जो बन गई है। सिलौन में एक बौद्ध सेठ रहता था। जिसके घर पर एक दिन चोर आया। सेठ ऊपर सो रहा था और उसके लड़के नीचे सोये हुए थे। लड़कों को पता चला तो उन्होंने उस चोर को पकड़ लिया और लगे उसको मारने। शोर गुल होने से सेठ की नींद भी खुल गई। वह नीचे आया और चोर को मारते देख कर अपने लड़कों से बोला—अरे, तुम यह क्या कर रहे हो? हम अहिंसक कहे जाते हैं? हमें मारना नहीं कल्पता है। इसलिए इसे मारो नहीं, सन्दूक में बंद कर पानी में छोड़ आओ। चोर ने जब यह सुना तो उसने सेठजी की दया भावना पर दो आँसू बहाते हुए कहा-वाह, सेठजी। आप तो बड़े दयावान हैं, धन्य है आपकी दया?

ठीक ऐसी ही स्थिति आज हमारी अहिंसा की भी हो गई है इसीलिए आज हमें लीलोती खाना तो नहीं कल्पता है; पर मीलों के वस्त्रों को पहनना कल्प रहा है? इससे आप यह न समझ लें कि मैं लीलोती खाने का निर्देश कर रही हूँ। मैं यह स्पष्ट रूप से कह देना चाहती हूँ कि आप लीलोती हरी शाक भाजी खाने का त्याग करें और शक्ति

अनुसार अवश्य करें, पर उससे पहले मील के वस्त्रों का त्याग अवश्य करें। तभी आपकी ये क्रियायें विवेकमयी कही जा सकेंगी।

खादी के वस्त्र पहिनने में धर्माराधना भी है। क्योंकि खादी पहिनने से भगवान् महावीर द्वारा बताये गये मोक्ष के चतुर्विध मार्गों का दान, शील, तप, और भावना का भी एक हद तक आराधन हो जाता है।

वर्तमान में दिये जाने वाले दानों में खादी एक महान् दान का कारण है। दान देने की वृत्ति आप में जरूर है, पर उसमें विवेक का नितान्त अभाव है। दान का हेतु फेंक देना नहीं, मगर बोना है। परन्तु विवेक के अभाव में आज हमारा दान देना भी फेंकने जैसा हो गया है। दान देते समय पात्र की योग्यता, स्थान, समय आदि का भी अवश्य विचार करना चाहिये। अन्यथा वह दान पुण्य के बजाय पाप का कारण बन जायगा। किसान खेत में बीज बोते समय वह उन्हें इधर उधर नहीं फेंक कर व्यवस्थित रूप में बोता है। तभी वह जितने दाने खर्च करता है उससे कई गुना अधिक पैदा करता है। यही बात दान की भी होती है। खादी के द्वारा भी ऐसा ही दान दिया जाता है। नल की बड़ी धारा भी जिस पृथ्वी को नहीं सींच सकती है, उसी को वर्षा की छोटी-छोटी बूँदें आसानी से तर कर देती हैं। इसी प्रकार खादी के उत्पादन में भी एक एक पैसे का योग्य वितरण हो जाता है। खादी में गुप्तदान और अभय-दान भी है। देने वाला तो समझता है कि मैं कपड़ा खरीद कर अपनी आवश्यकता पूरी कर रहा हूँ, पर ऐसा करते हुए भी वह हजारों गरीबों के क्षुधातुर शरीरों को शान्ति पहुँचा

देता है। मजदूर अपनी मजदूरी पाकर खुश हो जाता है और आशीर्वाद देता है। इस तरह गुप्त दान तो होता ही है, परन्तु खादी खरीद कर जिनको हम सहायता पहुँचाते हैं वे अपनी आजीविका पा जाने से मरण भय से मुक्त बनते हैं अतः अभयदान भी हो जाता है।

खादी सादगी का प्रतीक है, उसमें विलासिता का होना सम्भव नहीं है। अतः उससे शीलाराधन भी हो जाता है। वह मोटी और भारी होने से कष्टप्रद होती है इसलिये वह तपवर्धक भी है। अब रही भावना की बात, सो शुभ भावनाएँ तो खादी पहिनने के प्रारम्भ से ही आरम्भ हो जाती है। इस तरह दान, शील, तप और भावना का इससे सहज ही आराधन हो जाता है।

ऐसी पवित्र खादी को न धारण करने के बाबत भी जो दलीलें दी जाती हैं, उनका भी यहाँ खुलासा करना आवश्यक प्रतीत होता है। खादी के विरुद्ध में पहली दलील यह है कि वह महँगी होती है। खादी का प्रचार अधिक नहीं होने से उसका महँगा होना सम्भव हो सकता है परन्तु इसकी वजह से आपसे जो थोड़े पैसे अधिक भी लिये जाते हैं तो उसका वितरण करते समय गरीबों को भी उतने ही परिमाण में कुछ अधिक मिल जाता है अहिंसा के इस महान् पुण्योपार्जन के सामने आपके थोड़े पैसों की क्या कीमत है? इतने से ही ऐसा अलभ्य लाभ मिलता हो तो क्या उसे छोड़ देना बुद्धिमानी कही जा सकती है? कदाचित् खादी विशेष महँगी भी हो, तब भी उसे इस बहाने छोड़ा नहीं जा सकता है। दुष्काल में १ रु० सेर बिकने वाला अनाज आप खरीदेंगे या १ रु० मन बिकने वाला मांस? स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

Get freedom even at the cost of life. जीवन समर्पण के मूल्य से भी आजादी प्राप्त करो। भला जीवन समर्पण के सामने धन का क्या मूल्य हो सकता है? दूसरी दलील है वह मोटी और कष्टदायी होती है। इसका उत्तर विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'फ्रूट गेदरिंग' में दिया गया है। उसमें वे कहते हैं—

नरोत्तम नाम का एक भक्त वृक्ष के नीचे बैठ कर प्रार्थना करता था; फिर भी उसके पास हजारों आदमी एकत्रित हो जाते थे। और राजा के मन्दिर में जिसे उसने वीस करोड़ रुपयों की लागत से बनाया था, उसमें एक आदमी भी नहीं जाता था। यह देख कर एक दिन राजा नरोत्तम भक्त के पास आया और कुपित होकर बोला—"तुम मेरे वीस करोड़ के स्वर्ण मन्दिर को छोड़ कर इस वृक्ष के नीचे क्यों बैठे हो?

नरोत्तम ने कहा—आपके मंदिर में ईश्वर नहीं है इसलिये।

राजा बोला—क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि मैंने उसे वीस करोड़ रुपया खर्च कर बनाया है? नरोत्तम ने कहा—राजन्! मैं यह जानता हूँ। परन्तु जिस समय आपका यह मन्दिर बन रहा था उस समय आपके गाँव जल रहे थे और लोग आपके पास मदद के लिये भी आये थे। परन्तु आपने उनकी एक न सुनी। तब ईश्वर ने कहा—'जो अपने इन गरीब भाइयों के भी झोंपड़े नहीं बनवा सकता है वह मेरा मन्दिर क्या बना सकेगा? तभी से ईश्वर ने अपना आसन इस पेड़ के नीचे लगा दिया है।'

इस प्रकार यदि आप खादी के थोड़े से कष्ट से भाई की मदद न कर सकेंगे तो ईश्वर की, सत्य की या धर्म की उपासना के अधिकारी कैसे बन सकेंगे ? इसका आप स्वयं ही विचार करें।

खादी गरीबों की रोटी है। उसमें शील है, संयम है, दान है, तप है और भावना है। इसलिये उसे अवश्य अपनानी चाहिये।
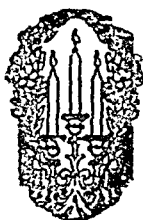
# आत्म साधना का राजमार्ग

धर्म मात्र का एक ही ध्येय है मोक्ष। राग और द्वेष से बिल्कुल मुक्त हो जाना मोक्ष है। दूसरे शब्दों में कहें तो संसार सागर से तिर जाना ही मोक्ष है। लेकिन मोक्ष मिले कैसे! संसार सागर से तिरा कैसे जाय? यही हमें सोचना है। सागर से पार होने के लिये नाव और नाविक की आवश्यकता होती है। हमारे शास्त्रों ने मानव देह को नाव और आत्मा को नाविक कहा है। नाव भी हो और चलाने वाला नाविक भी हो तो फिर मोक्ष मिलने में क्या देर हो सकती है! लेकिन नाव सब तरह से सुरक्षित होनी चाहिये। उसमें कहीं छेद नहीं होना चाहिये। जैसे किसी स्टीमर में एक छोटा सा भी छेद होजाता है तो वह डूब जाता है, वैसे ही मानव देह रूपी नाव में भी अगर छेद होगा तो वह भी डूब जायगी।

हम ६ संस्थान और ६ संहनन कहते हैं। परन्तु जब तक वज्रऋषभनाराच संहनन न होगा तब तक मोक्ष में जाया नहीं जा सकेगा। यह एक सत्य हकीक़त है, जिसका तात्पर्य है शरीर से मनुष्य को स्वस्थ होना चाहिये। तभी वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शरीर स्वस्थ होगा तो मन भी स्वस्थ रह सकेगा। कई बार बीमार आदमी ज्यादा चिड़चिड़ा हो जाता है। अत: मन को स्वस्थ रखने के लिये शरीर को स्वस्थ रखना जरूरी है। स्टीमर में बैठने से पहले वह कितना मजबूत है, यह देखना पड़ता है। वह सुन्दर है या नहीं, यह

नहीं देखा जाता है। वैसे ही मानव देह सुन्दर हो या न हो, पर स्वस्थ होना चाहिये। शरीर स्वस्थ हो, नाव ठीक हो, पर चलाने वाला अज्जड (मूर्ख) हो तो यह भी ठीक नहीं है। अतः चलाने वाला भी विवेकी होना चाहिये। तभी नौका सम्मार्ग पर आगे बढ़ सकती है। हमारा आत्मा रूपी नाविक चतुर होना चाहिये। क्योंकि मोक्ष का मार्ग बड़ा विकट होता है। उसमें चलते-चलते कई तूफानों से सामना करना होता है। उसमें जो अडिग रह सके वही विजयी होता है। सत्य के पथ पर चलने वालों को पग-पग पर बाधा आती है। पर जो अपनी हिम्मत नहीं हारते और स्थिर रहते हैं, वे इस पथ को पार कर जाते हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध को भी क्या कम आफतें आई थीं। पर वे उनसे विचलित न हुए इस-लिये आगे बढ़ गये। सत्य के पथ पर चलने वालों की दुनिया प्रथम मजाक ही करती है। यह बात आप महात्मा कबीर के एक दृष्टान्त से जान सकेंगे। महात्मा कबीर एक अच्छे सुधा-रक हो गये हैं। प्रेम और उदारता ये दो उनके जीवन की महान् विशेषताएँ थीं। हिन्दू और मुसलमानों को मिलाने के लिये ही मानों उनकी जिन्दगी थी। वे उनमें प्रेम भावना पैदा करते थे। अतः हिन्दू और मुसलमान दोनों उनको आदर देने लग गये थे। कबीर का यह बर्ताव ब्राह्मणों को बड़ा अखरा। वे कबीर की प्रशंसा को सहन नहीं कर सके। वे सब इसके लिये एकत्रित हुए और बोले—कबीर म्लेच्छों के मुँह से रामनाम कहला रहा है, क्या म्लेच्छ भी कभी राम-नाम ले सकते हैं? ईर्षावश उन सब ब्राह्मणों ने कबीर की निंदा करने का उपाय सोचा। उन्होंने एक स्त्री को बुलाया और कहा—'तू कबीर की निंदा हो ऐसा प्रयत्न करेगी तो हम तुझे मनमाना पैसा देते रहेंगे।'

पैसा बड़ी बुरी चीज है। इसके लोभ में पड़ कर मनुष्य का मन बिगड़ते देर नहीं लगती है। एक अंग्रेज विद्वान् ने कहा है—

'पैसों से भरा हुआ गधा जहाँ चाहे वहाँ जा सकता है।' पैसा सब जगह पूजा जाता है। युद्ध हो तो लोग उससे पैसा इकट्ठा करने की बात सोचते हैं। फिर ऐसा मौका कब आवेगा? लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि यह खून का पैसा सुख कहाँ दे सकेगा? आज इससे इतनी अधिक अनैतिकता बढ़ गई है कि छोटे-छोटे गाँवों में भी शुद्ध घी और दूध नहीं मिल पाता है। वेजीटेबल घी घर-घर में घुस गया है यह सब नैतिक पतन कराने वाला पैसा ही है। आप भी आज पैसों के लोभ से नाना पाप कर डालते हैं तो वह हल्की औरत पैसों के लोभ में आकर कबीर के लिये क्यों नहीं कुछ कर सकती थी? उस स्त्री ने लोभ में आकर ब्राह्मणों की बात मान ली। कबीर रोज की तरह अपना कपड़ा लेकर बाजार में बेचने आये। वह स्त्री कबीर के पास आई और बोली—अजी, तुम तो बड़े ठग मालूम होते हो। तुमने उस दिन तो मुझ से अपने घर ले जाने का वादा किया था, पर तुम फिर आये क्यों नहीं? मैंने तुम्हारा कितना इन्तजार किया? इस तरह वह कबीर के सामने जोर-जोर से चिल्लाने लगी। कई लोग इकट्ठे हो गये। लेकिन कबीर इससे घबराये नहीं। उन्होंने कहा—'मेरा कसूर माफ कर! तू मेरे घर चलना चाहती है तो मैं तुझे अपने घर ले चलता हूँ।' यह सुनकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। कबीर के विरोधी इससे बड़े खुश हुए। वे तालियाँ बजाकर कबीर की मजाक करने लगे। लेकिन कबीर इससे नाराज न हुए। वे मन ही मन हँसते रहे। उन्होंने सोचा—'राम ने यह अच्छी भेंट भेजी है।'

मुसीबत आवे तो इन्सान को उससे घबरा नहीं जाना चाहिये। अंग्रेजी में कहा गया है कि 'जब इन्सान पर मुसीबत आवे तो उस समय उसे यह सोचना चाहिये कि ईश्वर मानव को गहरे पानी में ले जा रहा है। डुबाने के लिये नहीं, पर शुद्ध करने के लिये वह ले जा रहा है।' फिर कोई घबरा कर डूब जाय तो यह दूसरी बात है। लेकिन वस्तुतः हकीकत यही है कि दुख मानव को ऊँचा उठाने के लिये ही आता है। विवेकानन्द ने भी कहा है—'जब आपत्ति आवे तब तुम खुश हो जाओ और यह विचार करो कि ईश्वर मेरे साथ खेलने के लिये आया है।'

आपत्ति आने पर भी जो मनुष्य इस प्रकार स्थिर रहता है वह अपनी नाव किनारे पर लगा सकता है। कबीर उस स्त्री को अपने घर ले गया और बोला—बहिन! तू मेरे साथ यहाँ रह, तुझे किसी तरह की तकलीफ न होने पायेगी। वह स्त्री घबराने लगी और पश्चात्ताप करती हुई कहने लगी—अरे मैंने कितना भयंकर अपराध किया है? लोभ के खातिर मैं ऐसे महात्मा का अहित करने में भी न चूकी। मेरी अब क्या गति होगी? यह कह कर वह अपना सिर धुनने लग गई। कबीर ने कहा—बहिन, तू घबरा नहीं और रंज न कर। इसका नतीजा अच्छा ही निकलने वाला है।

कबीर के विरोधियों ने दूसरा षड्यंत्र किया। दूसरे दिन एक सिपाही आया और बोला—कबीरजी, तुम्हें राजा साहब बुलाते हैं। कबीर ने कहा—मेरे जैसे तुच्छ आदमी से राजा साहब को क्या काम है? सिपाही ने कहा—यह तो मैं नहीं जानता हूँ, परन्तु आप मेरे पर दया करो और शीघ्र चले चलो। नहीं तो मेरी नौकरी चली जायगी। कबीर राजा के

पास भी उस स्त्री को लेकर पहुँचे। राजा ने उसे यहाँ भी उस स्त्री के साथ देखा तो उसे विरोधियों की बात पर पूरा विश्वास हो गया। उसने कहा—इसे यहाँ से धक्का मार कर बाहर निकाल दो। ऊपर-ऊपर से तो लोगों को उपदेश देता रहता है और अन्दर ही अन्दर ऐसे काम करता है? कबीर का यह हाल उस स्त्री ने देखा तो उससे चुप न रहा गया। उसने सच्ची-सच्ची हकीकत राजा को कह सुनाई। जिससे कबीर का मान-सम्मान दुगुना बढ़ गया। विरोधियों को हार खानी पड़ी। लेकिन तब भी वे चुप बैठे न रहे। उन्होंने एक मुसलमान बादशाह से जाकर कबीर की शिकायत की। उसने कबीर को बुलाया। कबीर गया, पर उसने बादशाह को सलाम नहीं किया। बादशाह ने कुपित हो उसे नदी में बहा दिया, पर वह तैरता-तैरता किनारे लग गया। पहाड़ से नीचे लुढ़का दिया गया, पर वह इससे भी बच गया। हाथी के पैरों तले छोड़ दिया गया, पर वह इससे भी बच निकला। इस प्रकार कबीर अनेक मुसीबतों का सामना करते हुए भी अपने मार्ग पर दृढ़ रहे थे। हमारे सामने भी अगर ऐसी मुसीबतें आयें तो हम उनका सामना करते हुए आगे बढ़ें। इससे हमारी देह रूपी नौका आगे बढ़ती रहेगी। राग और द्वेष के मगर-मच्छों से अगर हम अपनी नाव को बचाते हुए बढ़ते रहेंगे तो एक दिन अवश्य हमारी यह नाव संसार-सागर से तिर कर मोक्ष तक पहुँच जायगी।

# नीति और प्रीति

शिकारी जब किसी जंगल में जाता है, तब उस जंगल के प्राणी भयभीत होकर इधर उधर दौड़ने लगते हैं। अन्त में जब वे शिकारी से भयभीत बने हुए प्राणी गुफा का आश्रय लेते हैं, तभी वे सुरक्षित बनते हैं। ऐसे ही जरा, मरण और व्याधि ये तीन संसार के महान् शिकारी हैं। प्राणी मात्र इन शिकारियों से भयभीत है और त्रासित है। इन त्रस्त बने हुए प्राणियों के लिये भी दुख से मुक्त होने का एक ही मार्ग है, और वह है धर्म गुफा का आश्रय लेना।

धर्म गुफा में प्रविष्ट होने के दो द्वार हैं, एक नीति का द्वार है और दूसरा प्रीति का। इन दो द्वारों में से धर्म गुफा में प्रवेश करने से जरा, मरण और व्याधि रूप शिकारियों के त्रास से मुक्त बना जा सकता है। नीति और प्रीति मानों एक ही सिक्के की दो बाजू हैं। सिक्के की एक बाजू घिसी हुई हो तो वह नहीं चल सकता है। उसी तरह नीति या प्रीति में भी यदि कुछ कमी हो तो वह नहीं चल सकती है।

हीरा छोटा होता है, फिर भी संसार की तमाम सुख सामग्री उसमें भरी हुई होती है। बंगला, बाग बगीचा, मोटर वस्त्राभूषण आदि सब उससे सुलभ हो जाते हैं। हीरा की तरह ही नीति भी एक छोटा-सा शब्द है, फिर भी उसमें मनुष्य के अनेकविध कर्तव्यों का बोध समाया हुआ है।

नीतिवान होने का पहला अर्थ यह है कि मनुष्य को

प्रामाणिक बनना चाहिये। मैं इसके लिये अनेक बार कहती रहती हूँ और अधिक भार भी देती हूँ। इसका कारण यह है कि चारित्र का पाया ही प्रामाणिकता है। जो कि आज डगमगा रहा है। इतना ही नहीं विनाश के अन्तिम छोर पर पहुँच गया है। इस लिये अब हमें उसे बचा लेना चाहिये। तिब्बत की यात्रा से लौटे हुए एक भाई ने कहा था कि वहाँ के मानव इतने अधिक नीतिवान होते हैं कि वे किसी दूसरे की चीज को छूते तक नहीं हैं। आज रास्ते पर तुम अपनी लकड़ी भूल जाओ तो कल वह उसी ठिकाने पर पड़ी हुई मिलेगी। सैकड़ों स्त्री पुरुष वहाँ से निकलेंगे पर कोई भी उसे स्पर्श नहीं करेगा। हाल ही में एक अमेरिकन प्रवासी का अनुभव पढ़ने में आया था। उसमें लिखा था—

एक अमेरिकन प्रवासी युरोप की यात्रा करने के लिये निकला। उसने अपने साथ में एक अति सुन्दर और कीमती केमरा भी लिया। प्राकृतिक दृश्यों का वह बड़ा रसिक था, अतः कई प्राकृतिक स्थानों के उसने चित्र लिये। जिसमें मुख्यतः स्वीटझरलेंड के प्राकृतिक दृश्यों के चित्र विशेष थे। वापिस लौटते समय वह कुछ दिन पेरिस में उसके मित्र के यहाँ ठहरा। मित्र की मोटर में बैठ कर वह पेरिस में भी घूमता रहता था और फोटो लेता रहता था। वहाँ से वह लन्दन गया। रास्ते में उसका केमरा गुम हो गया। बहुत ढूँढ़ा, पर वह नहीं मिला। केमरा के ऊपर नाम-ठाम लिखा हुआ नहीं था इस लिये अब उसे मिलने की आशा न रही। इङ्गलैंड पहुँचने पर उसने अपने मित्र को पत्र लिखा, जिसमें केमरा गुम हो जाने का भी हाल लिखा। पन्द्रह रोज बाद उसके मित्र का पत्र आया, जिसमें लिखा था, 'तुम्हारा केमरा एक भाई को

मिल गया है। वह मेरे पास आया था। मैंने उसको तुम्हारा पता दिया है। वह दो रोज बाद लंदन आने वाला है, तुम वहीं रहना वह तुम्हें तुम्हारा केमरा दे जायगा।'

दो रोज बाद, जब वह भाई केमरा देने आया तो अमेरिकन प्रवासी ने उसका बड़ा आभार माना और पूछा—भाई, केमरा पर तो मेरा नाम या पता कुछ भी लिखा हुआ नहीं था, फिर तुमने इसके मालिक को कैसे खोज निकाला? वह बोला—केमरा ट्रेन में मेरे सामान के साथ आ गया था। इसके मालिक की मैंने खोज की, पर जब कुछ पता नहीं चला तो मैंने इसे पत्रों में प्रकट कराने का तय किया। परन्तु जब केमरे में फोटो देखे, तो मुझे लगा कि इन फोटों को साफ करवा लिया जाय, कदाचित इनको धुलवाने से कहीं पता चल जाय? फोटो साफ कराये गये, परन्तु सभी फोटो प्राकृतिक दृश्यों के थे अतः मुझे निश्चय हो गया कि इन फोटों से कुछ पता नहीं चल सकेगा। लेकिन मैं एक पर दूसरा फोटो उठाता चला जा रहा था। सहसा एक फोटो के पास में एक मोटर खड़ी हुई दिखाई दी। मोटर के नम्बर जानने के लिये मैंने उस फोटो का ७० गुना इन्लार्ज कराया, तब कहीं उसके नंबर मालूम हो सके। उस नम्बर की मोटर के मालिक का पता चलाया तो तुम्हारे वे मित्र मिल गये, जिन्होंने मुझे तुम्हारा नाम और पता बताया है। इससे मैं तुम्हारे पास आ गया हूँ। यह सब सुन कर अमेरिकन प्रवासी को बड़ा आनन्द हुआ। उसने उस भाई को खर्च के पैसे लेने के लिये बहुत आग्रह किया, परन्तु उसने लेने से साफ इन्कार ही कर दिया। इस तरह की प्रामाणिकता हर एक मनुष्य को, फिर भले ही वह गरीब हो या श्रीमन्त हो, शिक्षित हो या अशिक्षित हो,

बालक हो या वृद्ध हो, स्त्री हो या पुरुष हो, सभी को प्राप्त करनी चाहिये। और दुनिया के सामने ऐसा आदर्श पेश करना चाहिये कि हिन्द का कोई भी व्यक्ति दूसरों की वस्तुओं को छूता नहीं है, वहाँ ताला-चाबी या किवाड़ साँकलों की जरूरत नहीं है।

नीतिमान बनने के लिये मनुष्य को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। माता-पिता और गुरु के प्रति अपना फर्ज क्या है? पत्नी, पुत्र, सगे-सम्बन्धियों और नौकरों के साथ कैसे रहना, यह सब सीख लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में बौद्ध ग्रंथों में बुद्धदेव द्वारा दिया गया एक गृहपति पुत्र को, सुन्दर उपदेश है। राजगृही नगरी में भिक्षा के लिये जाते हुए गौतम बुद्ध ने सिंगाल नाम के एक युवक को छहों दिशाओं को नमस्कार करता हुआ देखा। तब वे बोले—हे गृहपति पुत्र! तू यह क्या कर रहा है? वह बोला—मेरे पिता ने मरते समय मुझे छहों दिशाओं को पूजने के लिये कहा था, वही मैं कर रहा हूँ। बुद्ध ने कहा—भाई, दिशा पूजने की यह सही रीति नहीं है। यह तो द्रव्य दिशा है, जब कि भाव दिशा की पूजा ही सच्ची पूजा कही जाती है। भाव दिशा इस प्रकार है—माता पिता पूर्व दिशा है। गुरु दक्षिण दिशा है। पत्नी पुत्र पश्चिम दिशा है। सगे सम्बन्धी उत्तर दिशा है। श्रमण, ब्राह्मण, साधु, सन्त और समाज सेवक ऊँची दिशा है। और नौकर-चाकर दास, मजूर आदि नीची दिशा है। ऐसा समझना चाहिये।

पूर्व दिशा की पूजा यानी माता पिता की पूजा करनी चाहिये। माता पिता की पूजा के पाँच अंग हैं। जैसा कि—१ उनका काम करना। २ उनका पोषण करना। ३ परम्परा

से चालू सत्कार्यों में दान, धर्मादि को चालू रखना। ४ उनकी सम्पत्ति का विलास में उपयोग न कर अच्छे कामों में खर्च करना। ५ वे जीवित न हों तो उनके नाम पर दान धर्म करना। इस प्रकार माता पिता की पूजा करना ही पूर्व दिशा की पूजा है। ऐसी पूजा करने से माता-पिता का अनुग्रह संतान पर उतरता है। यह संतान को पाप में से बचा कर सन्मार्ग पर चलाता है। क्या हम अपने माता पिता की ऐसी पूजा करते हैं? 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' यह हमारे आर्य शिक्षण का पहला पाठ है। देव की तरह अपने माता पिता का आदर करने वाले और उनकी आज्ञा का पालन करने वाले आज कितने भाई बहिन होंगे? बहुत कम, हजारों में से कोई एक-दो। परन्तु याद रखिये भीष्म तथा श्रवण की तरह सर्वस्व अर्पण कर देने वाले पुत्र ही माता पिता की सच्ची पूजा कर सकते हैं। माता के हृदय का तो जरा खयाल कीजिये। वह कैसी प्रेम मूर्ति है! उसके हृदय में कितनी कोमल भावनाएँ भरी हुई हैं? उसने तुम्हारे लिये कितने कष्ट सहे हैं? उसको दुख हो ऐसा कोई भी काम अपनी तरफ से नहीं होना चाहिये।

अमेरिका के एक बड़े धनवान और दानवीर गृहस्थ एन्ड्र्यु कार्नेजी का नाम आपने सुना होगा। इसके माँ-बाप बड़े गरीब थे। बाप जुलाहे का काम करता था और माँ धोबिन का काम करती थी। कार्नेजी अपना गुजारा चलाने के लिये मोची की दुकान पर जूते सीने का काम करता था। काम करे, तभी अन्न मिले, ऐसी स्थिति थी। कई बार तो उसे सोलह-सोलह और अठारह-अठारह घंटों तक काम करना पड़ता था। पहनने के लिये एक ही कमीज थी। रात में

जब वह सो जाता था तव उसकी माँ उसे धोकर सुखा देती थी। सवेरे उसे उसी अधसूखी कमीज को पहिन कर काम पर जाना पड़ता था। गरीबी की वजह से माता-पिता को होने वाले दुखों से उसको बड़ा दुख होता था। वह अपनी माँ से कहता था—'माँ मैं बड़ा धनवान होने वाला हूँ। मैं धनवान बनूँगा तव तुझे जरा भी दुख नहीं होने दूँगा। पहनने के लिये सुन्दर रेशमी कपड़े लाऊँगा, अच्छा भोजन खिलाऊँगा, गाड़ी, मोटर के बिना तुझे फिरने नहीं जाने दूँगा और तेरे लिये कई नौकर रखूँगा जो हर समय तेरी सेवा में खड़े रहेंगे।'

मेहनत-मजूरी, प्रामाणिकता और बुद्धिमत्ता के जरिये वह सचमुच कुछ समय में बड़ा धनवान बन गया। अपनी माँ को उसने अपने कहे मूजिब ही सुख दिया। माँ के आनंद की कोई सीमा न रही। लेकिन इतने ही से उसकी मातृ-भक्ति पूरी नहीं होती थी। उसने अपनी २२ वर्ष की कम उम्र में ही जो प्रतिज्ञा धारण की थी, वही उसकी मातृ-भक्ति की पराकाष्ठा थी। धनवान हो जाने पर उसने सोचा कि यदि मैं अब शादी करूँगा तो पत्नी की वजह से माता को कुछ दुख तो उठाना नहीं पड़ेगा? सासु-बहू से न बने तो, मैं धनवान की पत्नी हूँ, ऐसा अभिमान कर कल की धोबिन का क्या वह अपमान नहीं कर देगी? तो फिर मुझसे ऐसा नहीं देखा जा सकेगा। इससे तो कुँआरा रहना ही अधिक अच्छा है। अन्त में उसने यही निश्चय किया कि जब तक माता जीवित रहेगी तब तक मैं शादी नहीं करूँगा। माता का अत्यधिक आग्रह होने पर भी वह कुँआरा ही रहा और शादी नहीं की। माता का अवसान हो जाने पर जब कि उसकी उम्र

५२ वर्ष की हो चुकी थी, उसने अपनी शादी की। आज का हिंद भी यदि ऐसे मातृ-भक्त नर वीर पैदा करे तो फिर देश को उन्नति के शिखर पर चढ़ने में देर न लगे।

गृहपति पुत्र को वास्तविक गृहस्थ नीति का ज्ञान कराते हुए गौतम बुद्ध ने दूसरी दक्षिण दिशा की पूजा, यानी गुरु की पूजा बताई। गुरु-पूजा के पाँच अंग हैं। १ गुरु आवें तब उठ कर खड़े हो जाना। २ गुरु बीमार हों तो उनकी सेवा करना। ३ गुरु जो शिक्षा दें उसे श्रद्धा पूर्वक सुनना और उस पर अमल करना। ४ गुरुका काम करना। ५ और जो शास्त्र-ज्ञान दे, वह विनय पूर्वक ग्रहण करना। उक्त पाँच प्रकार से गुरु पूजा की जा सकती है। गुरु पूजा, यह नीतिमान गृहस्थ का दूसरा कर्तव्य है। गुरु पूजा से मानव का जीवन उन्नत बनता है। गुरु, शिष्य पर अनुग्रह कर सब विद्या सिखाते हैं और सन्मार्ग पर चलाते हैं। परन्तु कहाँ हैं आज ऐसे गुरु पूजक ? आज तो गुरु के सामने मिल जाने पर भी मानव अपना सिर नीचा कर आगे चल देता है। सद्‌गुरु के प्रति यदि हृदय में आदर न हो तो सन्मार्ग पर कैसे चला जा सकेगा ? सन्मार्ग के बिना शांति या सुख कहाँ मिलेगा ? एक तत्वज्ञानी अपने विशाल अनुभव के बाद लिखता है कि— After long experiance of the world I acknowledge who was not unhappy 'मैं अपने लम्बे अनुभव के बाद यह कबूल करता हूँ कि मैंने ऐसा कोई मनुष्य नहीं देखा है जो कि दुखी न हो' कुमार्ग पर जाने वाले को सुख कहाँ से मिल सकता है ? सन्मार्ग से ही सुख मिल सकता है और वह गुरु पूजक को ही प्राप्त होता है।

पत्नी और पुत्र के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना पश्चिम दिशा की पूजा है। पत्नी पूजा के पाँच अंग हैं।

(१) उसको मान देना। (२) उसका अपमान न होने देना। (३) एक पत्नी व्रत पालना। (४) घर का कारबार उसको सौंप देना। (५) और उसकी आवश्यकताएँ पूरी करना। ऐसा करने से पत्नी अनुकूल होती है। पतिव्रता बनती है। घर का सारा कामकाज सँभालने लगती है और अपनी जुम्मेदारी समझने लगती है। लेकिन आज यह सब कर्तव्य भुलाया जा रहा है। पत्नी का तिरस्कार किया जाता है और उनको आदर नहीं दिया जाता है। जिस घर में स्त्री का तिरस्कार होता है वह घर सुंदर या सुखी नहीं बन सकता है। कई एक स्थानों पर इससे विपरीत भी देखा जाता है। पति, पत्नी के इतना अधिक अधीन हो जाता है कि वह पत्नी के लिये माता-पिता की भी अवगणना करने लग जाता है। वस्तुतः वह पत्नी का गुलाम बन जाता है। ये दोनों ही दशा त्याज्य हैं। पत्नी को न तो अपने सिर पर चढ़ाना चाहिये और न उसे पाँवों से ही ठुकराना चाहिये। बल्कि उसे योग्य सम्मान देकर सच्ची गृहिणी बनाना चाहिये।

उत्तर दिशा की पूजा बताते हुए गौतम बुद्ध सगे-संबंधियों के प्रति कर्तव्य का बोध कराते हैं। सगे-संबंधियों की पूजा के पांच अंग हैं। १ उनको देने योग्य वस्तु देना। २ उनके साथ प्रिय भाषण करना। ३ उनके उपयोगी होना। ४ उनके साथ समान भाव से रहना। ५ और उनके साथ में निष्कपट भाव से व्यवहार करना। इस प्रकार यदि मनुष्य अपने सगे संबंधियों के साथ रहे तो वह सबका प्यारा बन सकता है और सबके साथ अपना मधुर संबंध कायम रख सकता है।

श्रमण, ब्राह्मण, साधु-सन्त और समाज सेवक ऊँची दिशा

है। इनकी सेवा करने के भी पांच अंग हैं। १ मन से उनका आदर करना। २ वाणी से उनके कार्य की प्रशंसा तथा अनुमोदन करना और दुनिया में उनके कार्य के प्रति सद्भावना फैलाना। ३ शरीर से उनकी सेवा करना। ४ भिक्षा के लिये आते समय उनका आदर करना। ५ उनको आवश्यक वस्तुएँ देना दिलाना। ऐसा करने से श्रमण हमको उत्तम मार्ग दिखाते हैं, और पाप से बचाते हैं। परन्तु सच्चे समाज सेवकों की ऐसी कदर आज कहाँ होती है? यदि उनकी कदर होने लगे तो समाज सेवकों की संख्या में भी वृद्धि होने लग जाय। लेकिन आज तो समाज सेवक किस हालत में पड़े हैं? यह सोचने की भी किसको फुरसत है। उनके बालकों के लिये शिक्षण की व्यवस्था है या नहीं? इसकी कौन चिंता रखता है? समाज के कई एक सच्चे सेवकों को, अपना सारा जीवन समाज को अर्पित कर देने पर भी कई मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। कई बार तो उनको अन्न और वस्त्रों का भी अभाव सहना पड़ता है। अतः प्रत्येक गृहस्थ को उनके प्रति अपने सच्चे कर्तव्य का पालन करना चाहिये।

नीची दिशा की पूजा, यानी नौकर, चाकर, दास, दासी मजदूर आदि की सेवा करना। इसके पाँच अंग हैं—१ उनकी शक्ति देखकर काम लेना। २ उनको योग्य वेतन देना। ३ बीमार हो तो सेवा सुश्रूषा करना। ४ प्रसंगानुसार उत्तम भोजन देना। ५ उत्तम कार्य के लिये पारितोषिक देना। ऐसा करने से नौकर-चाकर मालिक का यश गाते हैं और काम ठीक तरह से करते हैं। आज्ञा का पालन करते हैं। आज के जीवन में दास पूजा के ये पाँच अंग

विस्मृत हो जाने से स्वामी और सेवक के बीच में मीठा सम्बन्ध नहीं रहने पाया है। गुमास्ताधारा, यह उसी का परिणाम है। मीलों में होने वाली मजदूरों की हड़तालें भी सेवक पूजा को भूल जाने का ही चिह्न है।

नौकर बीमार हो जाय तो उसकी सेवा सुश्रषा करना, सेवक पूजा का एक अंग है। लेकिन आज कितने मालिक ऐसी सेवा करते होंगे? घर पर यदि घोड़ा बीमार हो जाता है तो उसको दिखाने के लिये डाक्टर की व्यवस्था की जाती है, परन्तु यदि नौकर बीमार हो जाता है तो उसकी पगार भी काट ली जाती है। कैसी विपरीत यह स्थिति है? मोटर रखने के लिये गेरेज की व्यवस्था की जाती है पर कोई अपने नौकरों के रहने की भी चिन्ता करता है? नौकरों की शक्ति को देख कर काम लेना, यह भी सेवा का एक अंग है। वृद्ध या निर्बल नौकरों से कम काम लेना चाहिये और उनको पूरा वेतन देना चाहिये।

मजदूर, घास की भारी वाले या लकड़ी की भारी वाले, सब के साथ ऐसा ही व्यवहार रखना चाहिये। हमारे पूज्य गुरुदेव जब सी. पी. में विराजते थे, तो उस समय एक भाई ने उनसे कहा—महाराज, मुझे कुछ सौगंद दीजिये। गुरुदेव बोले—भाई, 'तुम्हारी जैसी इच्छा हो, करो'। परन्तु उसने गुरुदेव की इच्छा मूजिब ही सौगंद लेने का आग्रह रखा। तब गुरुदेव ने कहा—देखो, भाई! जब तुम लकड़ी या घास की भारी खरीदो तो उनकी कीमत देते समय निश्चित की हुई कीमत से कुछ ज्यादा पैसों की ममता उतारना। उस भाई ने ये सौगंद ले ली। जिसका परिणाम यह आया कि सभी भारी वाले उसको चाहने लग गये। किसी समय उसको

जंगल में जाना पड़े और किसी मुसीबत का सामना करना पड़े तो उस समय वे लोग उसके कितने मददगार हो सकते हैं ? इस तरह सेवक पूजा का बड़ा सुन्दर परिणाम आता है। अतः मुझे भी आप से यही कहना है कि आप भी अपने नौकरों को निश्चित किये गये वेतन के उपरान्त, मजदूरों के साथ तय की गई मजूरी के उपरान्त, भारी वालों से ठहराये गये पैसों के उपरान्त और ताँगा वालों से तय किये गये किराये के उपरान्त उनको कुछ भी अधिक दीजिये। जिससे कि वे खुश होंगे और भविष्य में किसी समय काम आवेंगे। पैसों को सुरक्षित रखने की यही सच्ची बैंक है।

इस प्रकार बुद्ध देव ने गृहस्थ को नीति धर्म सिखाते हुए इन छह भाव दिशाओं की पूजा बताई है। जो गृहस्थ इस प्रकार सर्वाङ्गीण नीति का पालन करता है, वह नीति द्वार से धर्म में प्रविष्ट हो निर्भय बन जाता है। धर्म गुफा का दूसरा द्वार प्रीति यानी सर्व जीवों के प्रति प्रेम और दया रखना है। प्रीति यानी पीड़ितों की निस्वार्थ सेवा और प्रीति यानी पतितों का उद्धार, दलितों का दुख दलन। जिससे मानव हृदय को जोड़ा जा सके और दूसरों के दुखों को जाना जा सके, उसका नाम है प्रीति। अपनी पीड़ा तो जानवर भी जानते हैं। परन्तु दूसरों की पीड़ा जानना ही मानव की विशेषता है। हर किसी के दुखों से दिल काँप उठे, इसी का नाम प्रीति है। प्रीति से की गई सेवा का मनुष्य को अभिमान नहीं होता है। माता प्रीति से बालक की सेवा करती है, इससे उसको अभिमान नहीं होता है। आज तो सब कोई अपनी सेवा का माप निकालते हैं, परन्तु प्रीति पूर्वक की गई सेवा में ऐसा नहीं होता है। सूर्य दुनिया पर कितना

उपकार करता है ? वह कितना नियमित हो अपने सेवा कार्य को करता है ? नियत समय से एक सैकण्ड भी आगे पीछे नहीं करता है। फिर भी वह कभी अपनी सेवा का मान पत्र नहीं चाहता है। सारी प्रकृति ही हमें यह शिक्षा देती है। नदियाँ वहती ही रहती हैं। वृक्ष छाया और फल देते हैं। पुष्प सुवास देते हैं और बदले में कुछ चाहते नहीं हैं। ऐसी निस्वार्थ प्रीति ही धर्म गुफा का दूसरा द्वार है।

मनुष्य को दूसरों से प्रेम करने में जो आनन्द आता है वह दुनियाई भोगों के आनन्द से कुछ जुदा ही आनन्द होता है। जिसके हृदय में सब के प्रति प्रीति का निर्मल झरना वहता है वह हृदय नहीं, पृथ्वी का नन्दनवन है। उसके हृदय में ईश्वरीय तत्त्व का निवास है। क्योंकि ईश्वर प्रेम मय ही है। हमारा, जीवन पुष्प की तरह है और प्रेम उसमें रहा हुआ मद है। सभी जीवों के प्रति मैत्री रखना यही सब धर्मों का अर्क है—सार है। खिस्तियों के विषय में एक सुन्दर वाक्य लिखा गया है—'They are true decipels of christ not who know most, but who love most.' यानी जो ज्यादा जानते हैं, वे नहीं, पर जो अधिक प्रेम रखते हैं वे ही ईशु ख्रिस्त के सच्चे शिष्य हैं।' हमको भी सब के साथ हिलना-मिलना चाहिये। उसमें सम्प्रदाय; जात-पाँत या रंग भेद के भाव भूल जाना चाहिये और हर एक के सामने प्रेम-भरे नजरों से निहारना चाहिये। हर एक के साथ प्रेम रस भीनी वाणी से बातें करना चाहिये। घर आये हुओं को प्रेम से आदर देना चाहिये। ऐसा करने से आप जहाँ जावेंगे वहाँ आपको अनेक मित्र मिल सकेंगे और आपको कहीं भी अकेला पन नहीं लगेगा। अतः दिल

में अन्य को अपनाने की और अन्य में समा जाने की भूख पैदा करते रहना चाहिये और प्रेम की वर्षा करते जाना चाहिये।

इस प्रकार नीति और प्रीति एक ही धर्म वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। दोनों ही एक पक्षी की दो पंखों की तरह हैं। धर्म के इन दो अंगों को जो मनुष्य अपने जीवन में पूर्ण रूप से उतारेगा वह सदा सर्वदा धर्म गुफा में रह कर सुखी बन सकेगा।
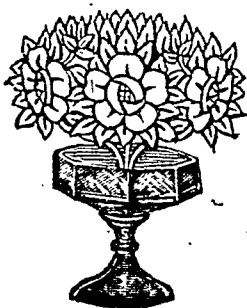
# धर्म-दीपक

अंधियारी गुफा में प्रवेश करने वाले मानव को अपने हाथ में दीपक लेकर जाना चाहिये। यदि वह दीपक लिये विना ही प्रवेश करेगा तो उसे भटकना पड़ेगा, हैरान होना पड़ेगा और अन्त में उसे मौत का शिकार हो जाना पड़ेगा। अत: बुद्धिमान् मनुष्य को तो दीपक लेकर ही प्रवेश करना चाहिये। हम भी संसार की अंधियारी गुफा में आ गये हैं। दीपक साथ में रखा है या नहीं? यही देखना है। दीपक होगा तो मार्ग भी सूझेगा और संसार में सुख-शान्ति भी अनुभव की जा सकेगी। अन्यथा दीपक विना दुख, आपत्ति और अशान्ति की चट्टानों से टकरा कर विनाश को ही आमंत्रण देना होगा।

संसार की अंधियारी गुफा में धर्म दीपक ही प्रकाश फैला सकता है। परन्तु मानवों के हृदयों में यह धर्म-दीपक प्रज्वलित ही नहीं होता है। उनका समस्त जीवन हिंसा, द्वेष, असत्य, कपट, छल, आवेश, वासना आदि अधर्म प्रवाहों में प्रवाहित होता है। कई एक मनुष्यों के हृदयों में यह धर्म ज्योति प्रज्वलित तो होती है, परन्तु वह जलती हुई मोमबत्ती की तरह अस्थिर होती है। मोमबत्ती की लौ को जरा सा हवा का स्पर्श हुआ कि वह हिल जाती है, और पवन का जोर लगा तो जैसे वह बुझ जाती है, वैसे ही ऐसे मनुष्य भी सत्य के मार्ग पर जाने वाले तो होते हैं, परन्तु जब वे देखते हैं कि झूठ बोलने से, काला बाजार करने से, मनुष्यों को

लाभ होता है, तव उनकी श्रद्धा भी डगमगाने लग जाती है
फिर अगर उन्हें बुरी संगत की जोरदार हवा लग जाय और
कोई ऐसा कहने वाला भी मिल जाय कि 'कहीं व्यवहार
भी झूठ बोले बिना चल सकता है ? देखो, वह झूठ बोलने
वाला कैसे मजे ले रहा है ? भाई, धर्म-कर्म तो धर्म स्थानक
की चीज है, व्यवहार में कहीं ये चल सकते हैं ?' तो फिर
ऐसी बातों से उनकी श्रद्धा जड़ मूल से डगमगा जाती है और
अन्त में उनका धर्म दीपक बुझ जाता है।

हृदय में धर्म-दीपक प्रज्ज्वलित करने के लिये नम्रता की
वाट-वत्ती और श्रद्धा का तेल होना चाहिये। नम्रता की वत्ती
के विना धर्म-दीपक जल ही नहीं सकता है। इसीलिये
भगवान् महावीर ने अपना अन्तिम उपदेश देते समय सबसे
प्रधान चीज नम्रता ही बताई थी। जैसा कि 'विनय मूलो
धम्मो' विनय ही सब सद्गुणों का मूल है। नम्रता मन को
ज्ञान ग्रहण करने के लिये और हृदय को सत्य ग्रहण करने
के लिये योग्य बनाती है। यह वह लोह-चुम्बक है, जो सब
सद्गुणों को अपनी तरफ खींच लेती है। एक अँग्रेज फिलो-
सफर ने नम्रता को बड़ी सुन्दर उपमा दी है।

Modesty is the Citadel of virtue 'नम्रता
सद्गुणों का किला है।' किला वाला गाँव सब तरह से
सुरक्षित माना जाता है। चोर या डाकू उसमें सरलता से
आ नहीं सकते हैं। इस तरह नम्रता वाले हृदय में भी
अवगुण नहीं घुस सकते हैं। परन्तु जैसे किला रहित गाँव
में चोर और डाकू आसानी से आ सकते हैं वैसे ही नम्रता
रहित हृदय में भी काम, क्रोधादि चोर आसानी से घुस
जाते हैं। क्रोध आकर क्षमा को लूट ले जाता है, तो लोभ

आकर सन्तोष को मार जाता है। काम आकर निर्विकार दशा का नाश कर देता है। इन सब सद्‌गुणों का संरक्षण नम्रता ही करती है। मनुष्य जितना अधिक नम्र बनता जाता है उतना ही वह अधिक उन्नत होता जाता है। गेंद को आप जितने जोर से नीचे फेंकोगे उतनी ही वह ऊँची उछलेगी। ऐसा ही हाल नम्र आत्मा का भी होता है।

हृदय में धर्म-ज्योति प्रकटाने के लिये नम्रता की बत्ती तो होनी ही चाहिये। पर इसके साथ-साथ श्रद्धा का तेल होना भी जरूरी है। शास्त्रकारों ने कहा है कि 'सद्धा परम दुल्लहा' श्रद्धा परम दुर्लभ है। परन्तु धर्म ज्योति प्रकटाने के लिये हमें श्रद्धा प्राप्त करनी ही होगी। जगत के अन्य सब बलों में श्रद्धा का बल सर्वश्रेष्ठ माना गया है। सब सिद्धियाँ श्रद्धा के समीप आकर कृतकृत्य हो जाती हैं। एक विद्वान् ने श्रद्धा के विषय में क्या ही सुन्दर कहा है—

Faith laughs at the shaking of the spear, unbelief trambles at the shaking of leaf.

श्रद्धावान मनुष्य अपने सामने भाला या तलवार को फिरते देख कर भी निर्भयता पूर्वक हँसता रहता है, जब कि जिसको अपने बल में या अपनी आत्मा में विश्वास नहीं होता ऐसा श्रद्धा हीन मानव वृक्ष का एक पत्ता हिल जाने पर भी डर के मारे काँपने लग जाता है।

इस प्रकार नम्रता की बत्ती से और श्रद्धा के तेल से धर्म दीपक प्रज्ज्वलित हो जाने पर उसे स्थायी और स्थिर बनाने के लिये शुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता रहती है। अन्तःकरण में विकार आ जायँ तो वे नम्रता और श्रद्धा का नाश कर देते हैं। धर्म ज्योति को बुझा देते हैं। इसलिये धर्म-ज्योति

को स्थिर बनाने के लिये, शुद्ध अन्तःकरण की भी श्रद्धा और नम्रता जितनी ही आवश्यकता होती है। भगवान् महावीर ने भी कहा है—'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई' धर्म शुद्ध हृदय में ही स्थिर होता है।

अन्तःकरण की शुद्धि-चित्त की शुद्धि यह सब धर्मों का ध्येय है। विवेक और वैराग्य से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। सूयगडांग सूत्र में भगवान् ने फरमाया है कि विवेक और वैराग्य से चित्त-शुद्धि करने वाला पुरुष ही धर्म प्राप्ति कर सकता है।

एक बार महान् धर्म प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध से उनके एक शिष्य ने चित्त-शुद्धि का मार्ग पूछा। बुद्ध ने उसका उत्तर देते हुए कहा—भिक्षुओ! चित्त शुद्धि के लिये, दुख का नाश करने के लिये चार स्मृत्युपस्थानों का अहर्निश चिंतन करना ही एक मार्ग है। देह का अवलोकन, वेदना का अवलोकन, चित्त का अवलोकन और मनोवृत्ति का अवलोकन ये चार स्मृत्युपस्थान कहे गये हैं, जिनका अवलोकन करने से चित्त-शुद्धि की जा सकती है।

मनुष्य अपने या पराये देह की आसक्ति के वशीभूत हो कई अनर्थ कर डालता है। स्त्री-देह पर आसक्त होकर युद्ध करने वाले अनेकों राजाओं के वर्णन इतिहास में मिल सकेंगे। अपने देह के प्रति आसक्त बन कर भी क्या मनुष्य कम पाप करते हैं? अतः इन पापों से दूर हटने के लिये देह का अवलोकन करना प्रथम स्मृत्युपस्थान है। इस देह में केश, लोम, नख, दाँत, त्वचा, माँस, रजायु, अस्थि, रुधिर, पित्त, श्लेष्म आदि भरे हुए हैं। चाहे जैसे रुचिकर और स्वादिष्ट

पदार्थ क्यों नहीं खाये जायँ, अन्त में वे मल रूप में ही परिवर्तित होने वाले हैं।

जब तक आत्मा है तब तक ही देह की कीमत है। आत्मा के अभाव में शरीर मुर्दा हो जाता है। मुर्दे को कौए, कुत्ते नोंच-नोंच कर खा जाते हैं। मेरे देह की भी अन्त में यही स्थिति होगी, ऐसा सोचकर उसके लालन-पालन के लिये और उसको ऐश-आराम में रखने के लिये जो नाना प्रपंच किये जाते हैं उन अनर्थों से मनुष्य को बचना चाहिये। जैसा स्वरूप अपने शरीर का है वैसा ही स्वरूप दूसरों के देह का भी है। ऐसा विचार कर स्त्री आदि की आसक्ति से मुक्त बन कर आत्मा की तरफ ध्यान देना चाहिये।

श्री मल्लिनाथ भगवान् ने देह अवलोकन का बड़ा सुन्दर पाठ राजाओं को सिखाया था। ज्ञाताजी सूत्र के आठवें अध्ययन में इस प्रसंग का वर्णन किया गया है। विदेह के राजा कुम्भ की रानी प्रभावती की कुक्षी से श्री मल्लिकुमारी का जन्म हुआ था। वह बड़ी रूपवती थी। सुन्दर और सुकोमल शरीरवाली मल्लिकुमारी ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का संकल्प कर लिया था। वह राजकुमारी थी, फिर भी उसका रहन-सहन और खान-पान ब्रह्मचर्य के अनुकूल बिल्कुल सादा था।

राजकुमारी मल्लि के रूप-लावण्य से मुग्ध होकर कितने ही राजाओं ने कुम्भ से उसकी याचना की। परन्तु राजा कुम्भ मल्लिकुमारी की प्रतिज्ञा से अनजान नहीं था अतः उसने किसी की माँग स्वीकार नहीं की। निदान, छह देशों के राजाओं ने अपनी माँग अस्वीकृत हो जाने से क्रोधित हो विदेह की राजधानी मिथिला पर चढ़ाई कर दी।

मल्लिकुमारी पहले ही जानती थी कि राजाओं की माँग अस्वीकार होगी तो वे क्रोधित हो जायँगे और चढ़ाई कर देंगे, इसलिए उन सबको शान्त कर संयमशील बनाने के लिये उन्होंने एक युक्ति भी खोज ली थी। उन्होंने अपने महल के कमरे के बीच में अपने रूपाकार की एक स्वर्ण मूर्ति खड़ी करवा दी थी। यह मूर्ति अन्दर से पोली थी। उसके सिर पर एक ढक्कन भी था। मूर्ति के अन्दर सुगन्धित खाद्य-पदार्थों को भर कर ऊपर यह ढक्कन मजबूती से बैठा दिया गया था।

युद्ध के लिये आये हुए छह राजाओं के सामने राजा कुंभ टिक नहीं सकता था। इससे उसको चिन्ता होने लगी। दूसरी तरफ राजकुमारी मल्लि ने सोचा कि मेरे खातिर यदि इतनी खून खराबी हो तो यह ठीक नहीं है। अतः उसने अपने पिता से कहा कि आप लड़ाई की चिन्ता न करें और राजाओं को मेरे पास आने दें मैं उन्हें समझा-बुझा कर ठिकाने कर दूँगी। राजा ने राजकुमारी की बात मान ली और वैसा ही किया।

जब राजाओं के पास यह संदेश पहुँचा तो वे बड़े प्रसन्न हुए। युद्ध की तैयारी बन्द कर वे सब मल्लिकुमारी के राज-महल में आ गये। जिस कमरे में स्वर्ण मूर्ति थी उसी कमरे में उनको बैठाया गया था। राजाओं ने तो उस स्वर्ण मूर्ति को ही मल्लिकुमारी समझ लिया और उसके रूप में अधिक आसक्त बन गये। कुछ देर बाद, जब मल्लिकुमारी वहाँ आकर खड़ी हुई तब राजाओं ने समझा कि यह मल्लिकुमारी नहीं मूर्ति ही है।

राजकुमारी ने उस मूर्ति का ढक्कन खोला तो चारों तरफ दुर्गन्ध फैल गई। राजागण घबराने लगे और कब यहाँ से

छुटकारा हो, सोचने लगे। इतने में मल्लिकुमारी ने कहा— राजाओं! तुमने अपने नाक पर हाथ क्यों दे दिया है? जिस मूर्ति के रूप पर तुम मोहित हुए थे उस मूर्ति में से ही यह दुर्गन्ध निकली है। मेरा यह सुन्दर दिखने वाला शरीर भी इसी तरह रक्त-मल-मूत्र जैसी घृणास्पद चीजों से भरा हुआ है। देह में गई हुई स्वादिष्ट वस्तु भी दुर्गन्ध रूप में परिणत हो जाती है। दुर्गन्ध से भरे हुए इस शरीर पर कौन विवेकी पुरुष मुग्ध हो सकता है?

मल्लि की मार्मिक वाणी से राजाओं का हृदय निर्विकार हो गया। अपने कार्य पर उन्हें लज्जा उत्पन्न हो गई। हृदय में पश्चाताप की अग्नि प्रकट हुई। उन्होंने कहा—'हे देवानु-प्रिय! तुम जो कहती हो, सच है।' मल्लि ने फिर कहा, हे राजाओं! मनुष्य के काम-सुख इस दुर्गन्ध युक्त शरीर पर अवलंबित हैं। इन काम सुखों में कौन आसक्त बने? मुझे इन सुखों में तनिक भी आसक्ति नहीं है। इन सब सुखों को छोड़ कर मैंने दीक्षा लेने का और आजीवन संयमी रहने का निर्णय किया है। चित्त में रहे हुए काम क्रोधादि विकारों को निर्मूल बना कर चित्त शुद्धि करना ही मैंने अपना जीवन-ध्येय बनाया है।

राजाओं का मन भी मल्लिकुमारी का यह दृढ़ निश्चय सुन कर उत्तम संयमी जीवन की तरफ आकर्षित हो गया छहों राजाओं ने अपने पुत्रों को राज्य भार सौंप कर दीक्षित होने का निर्णय किया। सब ने कुंभ राजा से क्षमा याचना की और राज्य की व्यवस्था कर दीक्षा अंगीकार कर ली इधर मल्लिकुमारी ने भी दीक्षा स्वीकार की और तीर्थंकर बने। कहने का आशय इससे इतना ही है कि अपने देह का

अवलोकन कर उत्तरोत्तर अनासक्त भावनाओं को बढ़ा कर देह का जन कल्याण के लिये उपयोग करना चाहिये। इसी का नाम देह-अवलोकन है।

दूसरा स्मृत्युपस्थान वेदना का अवलोकन है। मनुष्य दो प्रकार की वेदना का अनुभव करता है। अनुकूल वेदना यानी मन को प्रिय लगने वाली और प्रतिकूल वेदना यानी मन को अप्रिय लगने वाली। जिसे हम सातावेदनीय और असातावेदनीय के नाम से भी कहते हैं। सुख का उपभोग करते समय मनुष्य को यह विचार करना चाहिये कि मुझे यह सुख किससे मिला है? दूसरों को सुख देने से ही मुझे यह सुख मिला है। इसलिये अभी भी मुझे दूसरे जीवों को सुख पहुँचाना चाहिये। जिससे कि आगे भी सुख मिल सकेगा।

मनुष्य को दुख का; असातावेदनीय का अनुभव कई तरह से होता है। शरीर में रोग उत्पन्न हो, आर्थिक मुश्किली पैदा हो, खान पान और रहन-सहन में कठिनाई आती हो, किसी के कठोर शब्द सुनने पड़ते हों तो इससे मनुष्य को दुख होता है। यह प्रतिकूल वेदना है। ऐसे समय में मनुष्य को यह विचार करना चाहिये कि दूसरों को दुख देने से ही मैं दुखी हो रहा हूँ। इसलिये भविष्य में किसी को दुख न दूँ जिससे कि आगे भी दुखी न बन सकूँ।

हम कई बार मन, वचन और कर्म से दूसरों को दुख पहुँचाते हैं? सहज ही किसी को कड़वे शब्द कह देते हैं। कई बार बेकाम क्रोध कर बैठते हैं। कई बार अपनी गैर समझ से ही हम दूसरों का दिल दुखा देते हैं। चलते-फिरते असावधानी से कितने ही जीवों को हम अपने पैरों तले

कुचल डालते हैं। ऐसे अनेक कारणों से असाता का वंध होता है। ऐसे समय में विवेक को जागृत रख कर अशुभ वंध में से बचना ही वेदना अवलोकन है।

चित्त का अवलोकन करना यह तीसरा स्मृत्युपस्थान है। चित्त का अवलोकन यानी चित्त सकाम है या निष्काम, द्वेप युक्त है या द्वेप रहित? सम्मोह है या वित्त मोह? समाधिस्थ है या असमाधिस्थ? इसका विचार करना। यदि चित्त असमाधिस्थ है तो उसको वीतरागता में समाधिस्थ करने का प्रयास करना चाहिये। मोह और द्वेप पर विजय प्राप्त करना चाहिये।

मनोवृत्ति का अवलोकन चौथा स्मृत्युपस्थान है। मन में काम, क्रोध, विकार, दुष्ट बुद्धि, आलस्य आदि अवगुण तो नहीं हैं? मन किस ओर दौड़ रहा है? इसका विचार करना मनोवृत्ति का अवलोकन है। पानी के प्रवाह की तरह मनोवृत्तियों की गति स्वाभाविकतया अधोगामी होती है। उनका ऊर्ध्वीकरण करना चाहिये। मन को अधोगामी न बनने देने का केवल एक ही मार्ग है कि उसे अच्छे कामों में रोके रखना। यदि मन अच्छे कामों में लगा हुआ न रहेगा तो उसमें खराव विचार अवश्य पैदा हो जायँगे। एक विद्वान् ने कहा है—

Evil thoughts intrude in an unemployed mind, as naturally as worms are genevated in a stagnant pool.

जैसे पानी के खड्डे में क्षुद्र जीव-जंतु पैदा हो जाते हैं उसी प्रकार खाली मन में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। खाली मन विना दीवाल का घर है, जिसमें चारों तरफ से

विकार रूपी चोर प्रवेश कर सकते हैं। इसलिये मन को शुभ कार्यों में लगा कर उसकी अधोगामी वृत्तियों का ऊर्ध्वी-करण करना ही मनोवृत्ति का अवलोकन है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो' अधोगामी मनोवृत्तियाँ ही बंध का कारण है और ऊर्ध्वगामी मनोवृत्तियाँ मुक्ति का।

इन चार स्मृत्युपस्थानों को स्मृति में रख कर हृदय को शुद्ध रखा हो, तभी उसमें धर्म-ज्योति स्थिर रह सकती है। नम्रता की वत्ती और श्रद्धा का तेल होगा तो हृदय में धर्म दीपक का प्रकाश अखंड वना रहेगा और संसार की अँधि-यारी गुफा में भी शाश्वत सुख का मार्ग आसानी से प्राप्त किया जा सकेगा।
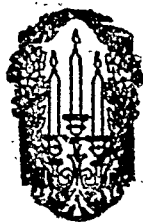
# कषाय-विजय

व्याख्यान समाप्त होने पर आपको घर जाना हो और कोई यह कहे कि रास्ते में पागल कुत्ता है, तो आप सब सावधान हो जायँगे। क्योंकि सामने जाने पर तो पागल कुत्ता काट खाता है। तो क्या उस कुत्ते को सारी दुनिया दुश्मनों से भरी हुई मालूम होती है, जो वह सबको काट खाता है? नहीं, ऐसी बात नहीं है। सच बात तो यह है कि उसकी दाढ़ में एक तरह का जहर फैल जाता है। जिसे वह कहीं छोड़ना चाहता है। वह जहर उसे बेचैन कर देता है। काम. क्रोध, लोभादि कषाय भी जहर जैसे ही होते हैं। जिसके दिल में क्रोध-लोभादि कषाय फैले हुए रहते हैं, वह कदापि स्वस्थ और शांत नहीं रह सकता है। यह जहर भी वह कहीं छोड़ना चाहता है। इससे उसे सगे सम्बन्धी या आप्त पुरुषों का भान नहीं रहता है। पागल कुत्ते से जितने हम डरते हैं उतने ही यदि हम काम-क्रोधादि से भी डरते रहें तो कितना अच्छा हो?

पागल कुत्ता मनुष्य को केवल एक वार ही हैरान करता है, एक ही वार मौत पैदा करता है। परन्तु क्रोध-लोभादि का जहर तो मनुष्य को अनेक जन्मों तक हैरान करता है और अनेक वार जन्म मरण भी कराता है। क्रोध का जहर जब इन्सान को चढ़ जाता है तब उसे कुछ भी भान नहीं रहता है। वह किसको कहता है, क्या कहता है? सामने पिता है, माँ है, गुरु है या बड़ा भाई है? यह वह देख नहीं

सकता है। वह सबसे लड़ता है। इसीलिये क्रोधी के विषय में कहा गया है कि 'क्रोधी आँखें बंद कर देता है और मुँह खोल देता है।' चारों कषाय अनर्थकारी हैं। जिनसे बचने के लिये शास्त्रकार कहते हैं।

कोहं च माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चतारि दोसाओ इच्छंतो हियमप्पणो ॥

अपना हित चाहने वाले को इन चारों कषायों का त्याग कर देना चाहिये। कषाय का सेवन करने वाले मनुष्य असुर राक्षस जैसे होते हैं, जब कि क्षमादि गुणों का आचरण करने वाले पुरुष देव तुल्य होते हैं। कषाय विष है और कषाय का उपशमन रूप संयम अमृत है। अमृत का पान करने वाले अमर बनते हैं और कषाय का सेवन करने वाले असुर। क्रोध करने से मनुष्य की शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की हानि होती है। डाक्टरों का कहना है कि अधिक क्रोध करने से मस्तिष्क में रहे हुए ज्ञान-तन्तु फट जाते हैं, और मनुष्य पागल हो जाता है। क्रोधी का मन हमेशा क्षुब्ध रहता है। उसको कहीं भी शांति नहीं मिलती है। वह किसी का प्रेम पात्र भी नहीं बन सकता है। न उसे कोई बड़ा पद मिल सकता है और न वह यश की प्राप्ति ही कर सकता है। उसको अपना जीवन शुष्क और भारभूत लगने लगता है। सामाजिक प्रतिष्ठा ही जब उसे नहीं मिलती तो आत्मिक सुखानुभव की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—

कोहाभिभूयाण सुहं लहन्ति।

क्रोध से पराजित हुआ मानव सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। मनुष्य, जिस क्रोधाग्नि में दूसरों को जलाना चाहता है,

उसमें वह खुद ही सर्व प्रथम स्वाहा-भस्म हो जाता है। क्रोध करना मानों मधुमक्खियों के छत्ते में पत्थर फेंकना है। जैसे मधु-मक्खी के छत्ते में पत्थर फेंकते ही चारों तरफ से मधुमक्खियाँ काटने लगती हैं, वैसी ही स्थिति क्रोध करने वाले की भी होती है। क्रोध करते समय मनुष्य के दिल में मधुमक्खी के डंक से भी अनेक गुणी अधिक पीड़ा होती है। केवल एक वार के क्रोध से ही मनुष्य का सारा दिन विगड़ जाता है। क्षण भर यदि वह क्रोध पर कावू रखे तो सारे दिन के दुख को टाल सकता है। क्रोध करना मानो विश्व के अशुभ परमाणुओं को अपनी तरफ खींचना है। ये अशुभ परमाणु उसके चेहरे और शरीर पर खराब असर पैदा करते हैं। इसके संबंध में अंग्रेज तत्व-ज्ञानियों ने कहा है कि— Anger is madness of mind. क्रोध मन का पागलपन है। जब तुम्हें क्रोध चढ़े तब किसी क्षमाशील पुरुष का स्मरण करो, जिससे वह हल्का-ठंडा हो जाय। किसी भी तरह क्रोध को शान्त करने का उपाय करना चाहिये। क्रोध को उपशान्त करने का एक नया उपाय वताते हुए एक अंग्रेज तत्वज्ञानी ने कहा है—

The greatest remedy for anger is delay. क्रोध शान्त करने का सबसे सुन्दर तरीका यह है कि जब क्रोध आवे तब एक-आध घंटे के लिये मौन धारण कर लेना चाहिये।

अभिमान के आने के मार्ग तो आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में रहे हुए हैं। शरीर में वायु भर जाने से संधिवात का रोग हो जाता है। संधिवात वाला पुरुष एक पग भी आगे नहीं वढ़ा सकता है। इसी तरह आत्मा में भी यदि अभिमान भर जाय तो आत्मा भी भारी हो जाती है और फिर प्रगति

करने में अशक्त हो जाती है। ग्रंथकार ने अभिमान को आठ फन वाले काले नाग की उपमा दी है। जाति, मदादि उसके आठ फन हैं। जाति मद ने तो आज मनुष्य को ऐसा विवेक शून्य बना दिया है कि उसे हिताहित का भी भान नहीं रहा है। यही जाति मद भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का खून कर रहा है और इसी जाति मद ने राष्ट्रपिता महात्मा जी का भी खून किया है।

भगवान् महावीर ने जाति मद के विरुद्ध, कुल की ऊँच-नीचता के विरुद्ध महान् क्रान्ति पैदा की थी। इसके लिये एक जैनाचार्य के जीवन का प्रसंग ध्यान देने योग्य है। यह प्रसंग सुप्रसिद्ध आचार्य श्री अमितगति के साधु-संघ का है।

एक वार शान्तिसेन नामक एक मुनि किसी शहर के वाहर उद्यान में पधारे। जिनके दर्शनार्थ नन्दी मित्र सेठ और सेठानी उस उद्यान में गये। वे मुनि के पास बैठकर धर्मोपदेश सुन रहे थे कि इतने में वहाँ किसी स्त्री के रोने की आवाज़ सुनाई पड़ी। ( मुनि ने तलाश करने को कहा ) सेठ और सेठानी ने चारों तरफ वगीचे में घूम-फिर कर देखा तो एक झोंपड़ी में उन्होंने एक अंत्यज-शूद्र स्त्री को प्रसवपीड़ा से कराहती हुई पाया। शिशु जमीन पर पड़ा हुआ था और स्त्री वेभान थी। सेठ और सेठानी अन्त्यज समझ कर कुछ देर तक खड़े रहे, पर फिर मुनि का उपदेश याद आते ही सामा ( सेठानी ) का दिल पिघल गया। उसने उस स्त्री की सेवा-सुश्रूषा की, पर वह वच नहीं सकी। थोड़ी ही देर में उसकी मृत्यु हो गई। सेठानी के कोई सन्तान न थी। वह इस वालक को अपने घर ले गई और उसका अपने बालक की तरह लालन-पालन करने लगी। सेठ ने वालक का नाम सुभूति

रखा। सुभूति जब १६ वर्ष का हुआ, तब सेठानी के एक पुत्र पैदा हुआ। सेठ ने पुत्रोत्सव की खुशी में सारे गाँव वालों को अपने यहाँ आमंत्रित किया और सब को खूब खिलाया-पिलाया। सुभूति भी बड़ा प्रसन्न होकर इधर-उधर फिर रहा था और सबको पान-सुपारी दे रहा था।

सेठ का एक परममित्र पुष्पमित्र था, जिसके एक कन्या थी। वह उसका सम्बन्ध सुभूति के साथ करना चाहता था। मौका देखकर उसने यह बात आज सेठ से कह दी। सेठ अपने पुत्र जन्म की खुशी में फूला नहीं समा रहा था। आज तक सुभूति ने उसे जो पुत्र सुख दिया था, उसे वह अब भूल गया और बोला—मित्र, मुझे कुछ एतराज नहीं है, पर तुम्हें खबर है, सुभूति मेरा पुत्र नहीं, चाण्डाल का पुत्र है। यह बात ऐसी वैसी नहीं थी कि जो छिप सकती थी। एक कान से दूसरे कान में पहुँचती हुई वह सबके कानों में पहुँच गई। सुभूति पान दे रहा था। अचानक किसी ने उसका हाथ तिरस्कार से पीछा खींच लेने को कहा। सुभूति बालक नहीं था। उसे कुछ ही समय में सारी बात का पता चल गया। वह दुखित हो घर से बाहर निकल गया और बगीचे में एक पेड़ के नीचे जाकर बैठ गया।

अब वह विचार करता है कि यह संसार कैसा है, जो हाड़-माँस के सम्बन्ध से आत्मा की ऊँच-नीचता मापता है? जिस पिता ने मुझे इतने वर्षों तक अपने प्राणों से भी अधिक प्यार किया था उसी पिता ने आज अपने पुत्र-जन्म की खुशी में मेरा आम सभा में तिरस्कार करा दिया? अभी-अभी मैंने जिस धर्मगुरु को अपने हाथों से भिक्षा दी थी, वे हमेशा जाति-भेद को भूलने का ही उपदेश देते रहते हैं। जैन-धर्म

पतित-पावन है। उसमें जाति-भेद को महत्ता न देकर गुणों को ही प्रधानता दी गई है। मुझे इस स्वार्थी संसार में अब नहीं रहना है। ऐसा निर्णय कर उसने जैन-धर्म की दीक्षा अंगीकार कर ली। कुछ ही समय में श्रमण सुभूति ने अपने अगाध-ज्ञान, ओजस्वी वाणी और निर्मल आचार द्वारा साधु-संघ में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। उनके प्रभाव-शाली प्रवचनों से श्रोतागण मन्त्र मुग्ध हो जाते थे। उनके इस प्रभाव से कई एक छद्मस्थ साधुओं को ईर्षा भी होती थी। अमरसेन नाम के एक मुनि, जो जन्मतः ब्राह्मण थे और जिनका यह जातिगत अभिमान अभी नष्ट नहीं हुआ था, एक दिन आम-सभा में उन्होंने शूद्र कह कर सुभूति का अपमान कर दिया। श्रावकगण यह सहन न कर सके और उन्होंने अमित-गति आचार्य से इसकी शिकायत कर दी।

चातुर्मासिक आलोचना के दिन चतुर्विध संघ आचार्य अमितगति के समक्ष उपस्थित हुआ। सबने अपने-अपने दोषों का प्रायश्चित कर आत्मशोधन किया। जब यह कार्य पूरा हुआ और कोई आत्म निवेदन करनेवाला न रहा, तब आचार्य ने कहा—क्या अब भी किसी को आलोचना करना बाकी है? सबकी आलोचना विधि पूरी हो गई न? ऐसा उन्होंने तीन बार कहा, पर जब कोई जवाब न मिला तो आचार्य ने कहा—'अभी एक अपराधी की आलोचना बाकी है। दुख है कि उसको अपने अपराध का भी भान नहीं है। आचार्य ने कहा—श्रमण, अमरसेन कहाँ हो, खड़े हो जाओ। श्रमण सुभूति को शूद्र कहकर तुमने संघ का अवर्णवाद ( अप-मान ) किया है। क्या इस महान् दोष को तुम स्वीकार नहीं करते हो? मुनि अमरसेन ने खड़े होकर कहा—'भन्ते! सुभूति शूद्र ही है और इसीलिये मैंने उसे शूद्र कहा है।'

आचार्य ने कहा - अमरसेन, तुम भूल कर रहे हो। दीक्षा ले लेने पर साधु किसी भी जाति का नहीं रहता है। साधु की जाति केवल मानव जाति है। जैन-धर्म का समभाव मानव तक ही सीमित नहीं, प्राणी मात्र के लिये है। किसी साधु को शूद्र कहना अवर्णवाद है, अपराध है। वर्णवाद मिथ्यात्व का कारण है। अमरसेन, तुमने एक अपराध तो किया ही है, पर उसे कबूल न करने का दूसरा अपराध भी कर लिया है। बोलो, अब तुम क्या कहना चाहते हो? आचार्य के मर्मस्पर्शी वचनों को सुनकर अमरसेन का हृदय निर्मल हो गया। उन्होंने गद्‌गद् कंठ से कहा—क्षमा, आचार्य-देव क्षमा करें, मैं अपराधी हूँ। और श्रमण सुभूति से क्षमा माँगता हूँ।' यह कह कर वह सुभूति के पैरों में गिर पड़ा। सुभूति ने अपने दोनों हाथों से उन्हें उठाकर खड़ा कर दिया। आचार्य ने अमरसेन को प्रायश्चित दिया और इस तरह अमरसेन का जाति-मद नष्ट हुआ। श्रमण सुभूति को योग्य समझ कर आचार्य ने उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार हम सबको भी चतुर्विध संघ से जाति मद का बहिष्कार कर मानव-मात्र से समानता स्थापित करनी चाहिये।

बल-सत्ता का अहंकार भी आज दुनिया को कुछ कम परेशान नहीं कर रहा है। सारी दुनिया आज सत्ता के जोर पर ही नाच-कूद मचा रही है। अमेरिका और रसिया आदि सब अपने-अपने बल का गर्व करते हुए दुनिया के सामने अपने विनाशक बल प्रयोगों के नये-नये प्रदर्शन कर रहे हैं।

धन-मद भी दूसरे मदों से कम बल नहीं है। धन के मद से पैसे वालों की आँखों की पलकें भी ऊँची नहीं होती हैं। उनको अपने आसपास की दुनिया भी दिखती नहीं है।

जैसे शराब, भंग, अफीम आदि नशीली वस्तुओं का मनुष्य को नशा चढ़ता है, वैसे ही मनुष्य को पैसों का भी नशा चढ़ने लग जाता है। उसकी खुली हुई आँखें न कुछ देख सकती हैं और न उसके कान कुछ सुन सकते हैं। कोई आशा लेकर उसके पास जावे तो वह दो मीठे वचन भी नहीं कह सकता है। उसकी तीक्ष्ण जीभ कठोर शब्द प्रहार ही करती है। यह सब नशे का नहीं तो और किसका परिणाम है? धन-मद में मस्त बने हुओं को विचारना चाहिये कि महान् चक्रवर्ती राजाओं की भी रिद्धि नहीं रह सकी है, तो फिर उनके सामने तुम्हारी क्या बिसात है? एक बार सोक्रेटीस से मिलने के लिये रोम का एक बड़ा जमीदार आया। बातों ही बातों में वह अपने मुँह अपने पास कितनी जमीन है, इसकी तारीफ करने लग गया। सोक्रेटीस को यह अच्छा न लगा। वह कुछ बोले बिना ही पृथ्वी का नक्शा उठा लाया और उस जमींदार से पूछा— बताओ, इसमें यूरोप कहाँ है? जमींदार ने अपनी अँगुली रखकर वह बता दिया। सोक्रेटीस ने दूसरी बार पूछा— इसमें ग्रीस कहाँ है? जमींदार ने इसे भी एक छोटी सी बिन्दी पर अपनी अँगुली रख कर बता दिया। सोक्रेटीस ने तीसरी बार पूछा—इस ग्रीस में रोम और तेरी जमीन कहाँ है? सारी दुनिया के नक्शे में रोम का और जमींदार की जमीन का क्या पता चले? वह शर्मा गया और उसका अभिमान नष्ट हो गया। इसी तरह धनवालों को भी अपनी धन-सम्पत्ति का अभिमान नहीं करना चाहिये।

सूत्र-मद यानी ज्ञान का अभिमान। कई एक विद्वानों को विद्या हजम नहीं होती है। ऐसे विद्वानों को सोचना चाहिये

कि केवल ज्ञान के सामने उनका ज्ञान कितना नगण्य है? इस प्रकार के सम्यक् विचारों से हमें अपने अभिमान को दूर कर देना चाहिये। अभिमान आवे तब बाहुबली की याद करनी चाहिये। जिनके थोड़े से अभिमान ने ही केवल्य प्राप्ति में फौलादी दीवाल खड़ी कर दी थी। जिसको छोड़ते ही उन्हें केवलज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हो गई थी। क्रोधी की तरह मानी भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है—

'माणंसिणो सोयपरा हवंति।

तीसरा कषाय माया है। मायावी मानव को हमेशा नये नये प्लान रचने पड़ते हैं। एक झूँठ को छिपाने के लिये बीसों झूठ बोलने पड़ते हैं। मायावी किसी का विश्वास पात्र नहीं बन सकता है।

लोभ यह चौथा कषाय है। एक लोभ ही दुनिया के ७५% दुःखों का और अनर्थों का मूल कारण है। विश्व युद्ध के मूल में लोभ नहीं तो और क्या है?

यह चंडाल चौकड़ी ही हमारी प्रगति में बाधक है। कषायों की मंदता ही हमारी प्रगति की पारा-शीशी है। कषायों के क्षय-उपशम या क्षयोपशम से ही चरित्र की प्राप्ति होती है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में ही सम्यक्त्व या जैनत्व की प्राप्ति होती है। एक वर्ष के भीतर यदि कषाय भाव शांत न हों तो यह अनंतानुबंधी कषाय कहा जाता है। यहाँ हमें अपने जीवन की तरफ दृष्टि डालकर विचार कर लेना चाहिये कि क्या हमारे एक वर्ष में ही कषाय-भाव शान्त हो जाते हैं? बारह महीनों के अन्दर ही क्या आप अपने भाइयों के झगड़ों का अन्त कर लेते हैं?

बारह महीनों से तो अधिक किसी के साथ वैर भाव नहीं रहता है न ? इसके बाद तो किसी पर कोर्ट में मुकदमा नहीं चलाते हैं न ? यदि इन बारह महीनों के अन्दर ही यह शुद्धि हो जाती हो तो आप अपने को सम्यक्त्वी कहलाने का दावा कर सकते हैं, अन्यथा आप सम्यक्त्वी कहलाने के हकदार नहीं हैं। तब तो मिथ्यात्वी ही कहे जायँगे। और यह तो आप अच्छी तरह जानते हैं कि मिथ्यात्वी की सभी क्रियाएँ निष्फल जाती हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास, व्रत, तप, जप, सभी सम्यक्त्व हो तभी सफल होते हैं। अब आप विचार लीजिये कि आपकी धार्मिक क्रियायें सफल होती हैं या नहीं ? यदि बारह महीने के अन्दर ही आपके क्रोध, लोभादि कषाय उपशान्त हो जाते हैं तो आपकी धार्मिक क्रियाएँ भी सफल हो जाती हैं, अन्यथा वे सफल नहीं कही जा सकती हैं।

अप्रत्याख्यानावरणी के अभाव में ही श्रावकत्व प्राप्त होता है। चार मास से अधिक क्रोधादि रहे तो श्रावकत्व नष्ट हो जाता है। आप सब श्रावक और श्राविका हैं, तो विचार कर लीजिये कि कहीं आप चार मास से अधिक समय तक के लिये तो क्रोधादि नहीं रखते हैं न ? चार महीनों के अन्दर ही कोर्ट के दावों के ( मुकदमों ) का निर्णय कर डालते हैं न ? इस प्रश्न का उत्तर अगर नहीं है तो कहिये आप में श्रावकत्व है खरा !

प्रत्याख्यानावरणी के अभाव में साधुत्व प्राप्त होता है। केवल पन्द्रह दिनों के भीतर ही व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक वैर-विरोध को दिल से दूर नहीं किया जाय तो साधुत्व का नाश हो जाता है। इस प्रकार कषाय की मंदता ही प्रगति की पाराशीशी है—थर्मामीटर है।

अब सहज ही यह प्रश्न होता है कि हमारे प्रगति पथ में पड़ी हुई इस पहाड़ जैसी चांडाल चौकड़ी पर विजय किस प्रकार प्राप्त की जाय ? श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने इसका मार्ग बताते हुए कहा है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं मज्जव भावेण, लोहं संतोसओ जिणे।

उपशान्त भाव से—क्षमा से क्रोध को जीतना, मृदुता से यानी नम्रता से, विनय से मान को जीतना, सरलता से माया को जीतना और संतोष से लोभ को जीतना चाहिये। कषाय जहर है और क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष ये अमृत बिन्दु हैं। जैसे हम प्रतिदिन नवकार मंत्र का जाप जपते हैं वैसे ही क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष के अमर मंत्रों का भी हमें जाप अवश्य जपना चाहिये।

हमारे पूज्य गुरुदेव ने नमस्कार मंत्र की अनुपूर्वी की तरह क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष की अनुपूर्वी बनाई है। अगर आप इसे भी नमस्कार मंत्र की अनुपूर्वी की तरह प्रतिदिन गिनेंगे तो कषायों को मंद कर प्रगतिशील बन सकेंगे।

## सफलता की कुञ्जी

वृक्ष के पत्ते जब पीले पड़ जाते हैं तब वे झड़ने लग जाते हैं। ऐसे ही जीवन-तरु से भी हर बारह घंटों से रात और दिवस रूपी पत्ते झड़ते रहते हैं। जिन्दगी अनेक दिवसों के समूह का नाम है। एक दिन के कम होते ही जीवन का एक अंश पूरा हो जाता है। जैसे सरिता का प्रवाह रात-दिन अस्खलित रूप में बहता रहता है, वैसे ही इस जिन्दगी का क्रम भी चलता रहता है। ऐसा होते हुए भी एक दिन जिन्दगी का अन्त आ जाता है, उसका क्रम टूट जाता है और मृत्यु आकर खड़ी हो जाती है।

जीवन नश्वर है और मृत्यु अटल है। परन्तु फिर भी हमें इसका विचार नहीं होता कि उस अटल मृत्यु क्षण के लिये कुछ कर लें? मृत्यु तो प्रतिक्षण हमारे निकट आ रही है परन्तु यह हमारी मृत्यु है, ऐसा हमें जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक भी भान नहीं होता है। उस अन्तिम क्षण के लिये, जहाँ पहुँचते समय हमें थोड़ा आश्वासन मिल जाय, ऐसा कुछ न कुछ अवश्य कर लेना चाहिये।

आप सब अभी यहाँ प्रभु की वाणी बड़ी शान्ति से सुन रहे हैं और सब यहाँ स्वस्थ बैठे हुए हैं। परन्तु अचानक यहाँ अभी एक सर्प आ जाय तो क्या ऐसी शान्ति और स्वस्थता बनी रह सकेगी? नहीं, यह शान्ति और स्वस्थता चली जायगी। क्योंकि सर्प में आपको मृत्यु की भयंकरता दिखाई देगी। लेकिन इससे शान्ति और स्वस्थता

खो वैठना ठीक नहीं है। यह तो हमारी अज्ञानता ही होगी। हमारा आदर्श तो ऐसा होना चाहिये कि जलते हुए गरम तवे जैसी शैय्या को भी फूल सी शीतल और आह्लादक बना दें, तथा वेदना के समय भी शान्ति को न खो वैठें। वालक का जन्म होता है तब वह रोता है। परन्तु उस समय उसके घर वाले तो खुश ही होते हैं। जीवन ऐसा जीना चाहिये कि मरते समय हम हँसे और दूसरे सब रोयें। अगर हम ऐसा जीवन जी सके तो यह जीना हमारा सफल माना जा सकेगा जो हँसते-हँसते मर सकता है, वह मृत्युंजय है। महात्माजी ने हे राम! कहते हुए कैसी शान्ति से अपना देह छोड़ा था? वे मृत्युंजय थे। ऐसे ही सोक्रेटीस ने भी प्रसन्न चित्त हो जहर का प्याला पिया था। ऐसा जीवन कोई एक दिन में ही नहीं बनाया जा सकता है। ऐसी मृत्यु के लिये तो जिन्दगी भर साधना करनी पड़ती है। जो अपना सारा जीवन सुन्दर बना सका हो, वही ऐसी सुन्दर मृत्यु भी प्राप्त कर सकता है। हमने भोग को मानव जीवन का ध्येय बना दिया है, जब कि जीवन तो मानवता का महाव्रत है। उसे भोग में उलझा देना मानवता की घात कर देना है। मानव की शक्ति तुच्छ नहीं है। वह सिंह-चीते जैसे हिंसक प्राणी को भी वन्दी बना सकता है। वह देवता को भी झुका सकता है और मंत्र बल से भूत-पिशाच को भी स्वाधीन कर सकता है। ऐसी शक्ति का उपयोग वह मानवता की प्राप्ति में भी कर सकता है और इस प्रकार वह अपने जीवन को महाव्रत बना कर कृतकृत्य भी बन सकता है।

मानव में मानवता के तीन गुणों का उत्तरोत्तर विकास होना चाहिये। वे तीन गुण हैं—विवेक, संयम और कर्त्तव्य पालन।

विवेक उसका पहला गुण है वालक जब दीपक का स्पर्श

कर लेता है, तो उसका हाथ जल जाता है। इससे वह फिर दुबारा स्पर्श नहीं करता है। अनुभव से उसने जो ज्ञान प्राप्त किया, वही विवेक है। मुझे सुख या दुख किससे होता है? यह समझ कर जो तदनुकूल आचरण करता है वही मानव है। सुख में संयम और दुख में शान्ति रखना विवेक है।

मानवता का दूसरा गुण संयम है शराव पीने वाला यह तो समझता है कि शराव पीने में नुकसान है। और कई वार वह न पीने का निश्चय भी कर लेता है। परन्तु मित्रों के मिलते ही उसका वह निश्चय डिग जाता है। उसमें विवेक तो होता है, पर संयम का अभाव होने से वह ऐसा नहीं कर सकता है। विवेक से समझ-बूझकर कार्य में परिणत करने का जो वल है, वही संयम है। विवेक का दीपक मानव-हृदय में कभी बुझता नहीं, सतत प्रदीप्त ही रहता है। बुरा करते समय उसका मन काँप उठता है। विवेक उसको सचेत कर देता है, परन्तु संयम के अभाव में वह बुरा कर बैठता है। और ऐसा बार-बार करने से जव उसका मन जड़ बन जाता है, तव उसके विवेक का भी अन्त आ जाता है। जहाँ मनुष्य को विवेक रोक दे वहीं उसे रुक जाना चाहिये और विचार कर संयम पालन करना चाहिये।

नियमों का पालन करना संयम है। मन को बुरे काम करते हुए रोकना और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना संयम है। चक्रवर्ती भी यदि इन्द्रियों का गुलाम बन कर रहता है तो वह चक्रवर्ती नहीं है। लाखों योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने वाला भी यदि अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त न करे तो वह पराजित ही है। Imitation of christ' नामक पुस्तक में लिखा है—

Victory perfect is to triumph over ourselves.

सम्राट् अशोक का पौत्र सम्प्रति जैन था। उसने चालीस करोड़ जैन बनाये थे। पहले हिंद की आबादी ३० करोड़ थी और इससे पहले १८ करोड़ कही जाती थी। अतः इससे स्पष्ट है कि उस समय जैनधर्म हिंद के बाहर भी फैला हुआ था। सम्प्रति का पिता कुणाल अंधा था। कुणाल अशोक का पुत्र था। बचपन में वह अपने ननिहाल में रहा करता था। कुणाल जब आठ वर्ष का हुआ तब अशोक ने उसके ननिहाल में लिख भेजा कि 'अधीयताम् कुमारः' कुमार को पढ़ाना-लिखाना। लेकिन पत्र लिखने वाले ने लिख दिया 'अंधीयताम् कुमारः' कुमार को अंधा बना देना। जानते हैं आप इसका क्या परिणाम आया? घास के ढेर में एक ही चिनगारी डाल देने पर जो परिणाम आता है वही परिणाम इसका भी आया। लिखने वाले की छोटी सी भूल हुई, उसने 'अधीयताम्' के बजाय 'अंधीयताम्' लिख दिया। परन्तु पुत्र ने पिता की आज्ञा का पालन किया। उसने अपनी आँखें निकाल डालीं और वह अंधा हो गया।

कई वर्षों बाद, कुणाल अपने पिता की राजधानी पटना में आता है और बड़ा मधुर संगीत गाता है। जिसे सुनकर प्रजा मुग्ध बन जाती है। उसकी ऐसी प्रसिद्धि सुनकर सम्राट् अशोक अपनी पालकी भेज कर उसे बुलाता है। कुणाल आता है, पर अपना मुँह नहीं दिखाता है। वह परदे के पीछे रहकर (Back ground) अपना सुरीला संगीत गाता है। जिसे सुन कर सम्राट् अशोक भी मुग्ध बन जाता है। कुमार गीत में ही अपना परिचय देता है, जिसे सुन कर अशोक चमक उठता है। उसे कुणाल की स्मृति ताजा हो जाती है और वह परदे के पीछे दौड़ पड़ता है। वहाँ वह कुणाल को देखकर अत्यन्त दुखित हो उठता है। परन्तु

कुमार कहता है—'मुझे अपने कर्त्तव्य-पालन की खुशी है, अन्धे होने का रंज या ग़म तनिक भी नहीं है।' इसी का नाम संयम है।

कुणाल का पुत्र सम्प्रति अपनी सोलह वर्ष की उम्र में दिग्विजय करके लौटा, तो वह सर्वप्रथम अपनी इस खुशी को व्यक्त करने के लिये अपनी माता के पास आता है। परन्तु माता उसकी खुशी में भाग नहीं लेती है। उसे युद्ध में होने वाली भयंकर हिंसा का विचार आता है और वह कहती है—'बेटा, इतनी घोर हिंसा द्वारा वाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना कोई कीमत नहीं रखता है। इसके बजाय यदि तुमने आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की होती तो यह मेरे लिये परम सुख और सौभाग्य की बात होती।'

अपनी माता के ऐसे वचन सुनकर कुमार सम्प्रति महल से बाहर निकल आता है। मार्ग में ही उसे एक मुनि का समागम हो जाता है और वह अहिंसा का उपासक बन जाता है।

आज की दुनिया के विविध प्रदेश यू० नो (सुरक्षा परिषद) में निःशस्त्रीकरण की बातें करते हैं और प्रस्ताव भी पास करते हैं। लेकिन सम्प्रति ने उस समय ऐसा नहीं किया था। आज तो ये सब कोरे प्रस्ताव ही कर दिये जाते हैं, उन पर अमल बहुत कम होता है। परन्तु सम्प्रति ने उस समय अपने देश में यह जाहिर करा दिया था कि जो-जो राजे-महाराजे या जागीरदार अपने शस्त्र छोड़ देंगे, उनके आन्तरिक सब टैक्स माफ कर दिये जायँगे। इस प्रकार उसने हिंसा का त्याग कराया था। अनार्य देशों में भी उसने अपने प्रचारक भेज कर शान्ति की स्थापना की थी। ऐसा भी कहा

जाता है कि अशोक के नाम से आज जो शिलालेख देखे जाते हैं वे सब सम्प्रति ने ही कराये थे।

मृत्यु के समय भी अगर आपको शान्ति चाहिये तो इन्द्रियों पर संयम रखिये। कान किसी की बुराई न सुने और आँख किसी की बुराई न देखे। इसे आप सच मान लें कि अवगुण देखने से अवगुणों का संचय हो जाता है और गुण देखने से गुणों का। प्रत्येक वस्तु में गुण तथा अवगुण दोनों रहे हुए हैं। परन्तु हमको उसमें से क्या ग्रहण करना है, इसका तो अपने आप ही निर्णय कर लेना चाहिये।

महाभारत का एक प्रसंग है, श्री कृष्ण ने दुर्योधन से गुणवान् पुरुष की खोज करने को कहा। परन्तु उसे कोई गुणवान् पुरुष न मिला। दूसरी तरफ उन्होंने युधिष्ठिर से अवगुणी पुरुष खोजने को कहा, तो उसे कोई अवगुणी ही नजर नहीं आया। इससे स्पष्ट है कि जिसकी जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही उसे दिखाई देता है। मनुष्य को तो केवल इतना ही तय कर लेना चाहिये कि बैठना कहाँ? कूड़ा-करकट के ढेर पर या बगीचे में? हृदय में गंदगी भरनी है या सुगंध? इसका निर्णय मनुष्य को अपने आप करना चाहिये। हमारे एक हाथ में स्वर्ग है और दूसरे में नरक। आपको जो चाहिये वही मुट्ठी खोल कर ले सकते हो।

किसी की बुराई नहीं सुनने के लिये कोई बड़ा भारी काम नहीं करना पड़ता है। अच्छी बात सुनने और अच्छी बात देखने की आदत डालने से यह काम हो सकता है। लेकिन आज तो गली-गली में नाटक और सिनेमा फैले हुए हैं, जो कि प्रजा को निर्माल्य बना रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हम तो धार्मिक चित्र देखते हैं। जो लोग यह दलील

देते हैं कि धार्मिक चित्रों के देखने से धार्मिक वना जाता है, विल्कुल खोटी है। निन्यानवे टका दर्शक गण इनमें से कुसंस्कार ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि इसे तो आप भी मानने से इन्कार नहीं कर सकते कि सुसंस्कार के वजाय कुसंस्कार जल्दी ग्रहण कर लिये जाते हैं।

टोल्सटोय ने इस सम्वन्ध में एक वड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। वह लिखते हैं कि आग लग जाने से किसी मनुष्य का घर जल रहा था। उसके प्रकाश से एक आदमी ने पुस्तक पढ़ी, दूसरे ने उसकी आग से सिगरेट जलाई और तीसरे ने उस पर चाय बनाई। इस प्रकार तीनों को उससे लाभ ही हुआ। परन्तु समझने की बात तो यह है कि इस लाभ के मुकावले में उस घर के जल जाने से नुकसान कितना हुआ?

आजकल के जमाने की फरियादों में एक फरियाद यह भी अधिक सुनाई पड़ने लग गई है कि 'हमारी नेत्र शक्ति कमजोर हो गई है।' और यह सच भी है। क्योंकि आँख का संयम आजकल वहुत कम पाला जाता है। आज तो संयम के वजाय भोग को ज्यादा महत्व दे रखा है। अधिक मोटरें और कई वंगले जिसके पास हों वही बड़ा आदमी है, ऐसी भ्रान्त धारणाएँ आज हमारे दिलों में घर कर गई हैं। पर इस रहस्य को सव भुला वैठे हैं कि भोगों का उपभोग भी एक आदमी कितना कर सकने वाला है? सामग्री बढ़ती है, पर वह सव भोगी नहीं जा सकती है। जीवन का ध्येय भोग नहीं संयम है। याद रखिये आवश्यकताओं को वढ़ाये जाना भी अनार्यता ही है।

वाणी के असंयम से तो आप जानते ही हैं महाभारत का युद्ध हो गया था। मायावी रचना न समझ सकने से स्थल

को जल समझ कर दुर्योधन ने अपने कपड़े ऊँचे उठा लिये थे। बस, इसी पर द्रौपदी ने उसकी मजाक उडाते हुए कह दिया कि 'अंधे के बेटे भी तो अंधे ही होते हैं न ?' वाणी के इस असंयम से ही महाभारत जैसा घमासान युद्ध हो गया था। वाणी का जो दुरुपयोग करते हैं उससे तो मूक पशु ही अच्छे होते हैं।

मानव जीवन का तीसरा लक्ष्य कर्त्तव्य पालन है। जिसका जो कर्तव्य है, उसे वह पूरा करे, इसी में मानव जीवन की सफलता है।

रात और दिन के रूप में पीले पत्ते झड़ते चले जा रहे हैं और जीवन बहता चला जा रहा है। गया हुआ समय वापिस आने वाला नहीं है। अतः प्रमाद को छोड़ कर जीवन को सफल बनाने के लिये विवेक, संयम और कर्तव्य पालन के व्रत को अंगीकार कर जीवन को महाव्रत बना दो। मानव जीवन के सफलता की यही कुंजी है।

# सर्वधर्म समभाव

संसार में धर्म के नाम पर जितनी खून की नदियाँ बही हैं, उतनी शायद ही किसी अन्य कारण से वहाई गई हों। इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम पर रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टंट और क्रिश्चियनों के बीच भीषण संघर्ष हुए, धर्म के नाम पर पोप सत्ताधीशों ने क्रिश्चियनों को जलाया-भून डाला, हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए, मुसलमानों ने कई हिन्दुओं को फाँसी पर लटका दिया, छोटे-बच्चों को दीवालों में चुन दिया गया, और धर्म के ही नाम पर अभी कुछ वर्षों पूर्व जैनों के तीर्थ स्थान केशरियाजी पर श्वेताम्बर और दिगम्बर ध्वज चढ़ाने के सिलसिले में ४-५ जैनों का खून भी हो गया था। लेकिन याद रखियेगा कि ये सब अनर्थ धर्म के नाम पर ही हुए हैं, धर्म के लिये नहीं। इतिहास इसका साक्षी है कि इन सब अनर्थों का मूल 'धर्म के लिये' नहीं, पर धर्म के नाम पर आधारित था। धर्म के नाम पर होने वाले अनर्थों को देख सुन कर अगर हम धर्म से ही किनारा कर लें तो यह बुद्धिमत्ता नहीं कही जायगी। यों तो शैतान भी अपनी शैतानियत के लिये खुदा की आड़ ( ओट ) ले लेता है, पर क्या इससे खुदा बुरा बन जाता है? मनुष्य भी अपने स्वार्थ वश या ईर्ष्या, द्वेष की पुष्टि के लिये धर्म की आड़ ले ले तो इसमें धर्म का दोष नहीं समझना चाहिये। धर्म के अर्थ को अगर हम समझेंगे तो उसकी असलियत को आसानी से जान सकेंगे।

जिन कर्तव्यों या नियमों का पालन समाज के विकास

के लिये और सुख शान्ति के लिये जरूरी है, उनका मन, वचन, काया से शुद्धतया पालन करना धर्म है। इस धर्म का इन सब खून खराबियों और झगड़ों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'धर्म के नाम का जब ऐसा दुरुपयोग होता है तो फिर धर्म को ही क्यों न मिटा दिया जाय? न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। फिर लड़ाई-झगड़े तो न होंगे।' मैं ऐसे लोगों से यह पूछना चाहती हूँ कि 'किसी दिन उन्हें भोजन से अजीर्ण हो जाय, तो क्या वे फिर सर्वथा ही भोजन का त्याग कर देंगे? या भोजन के दुरुपयोग का त्याग करेंगे??' बुद्धिमान व्यक्ति भोजन का नहीं, पर उसके दुरुपयोग का ही त्याग करेगा। तो फिर बताइये धर्म का नाश क्यों करना चाहिये? धर्म के विकारों का नाश जरूर करना चाहिये, पर धर्म का नहीं धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, उसका नाश किया ही कैसे जा सकता है? जब तक हमारे में जीवन है, प्राण है, हम अपने स्वभाव का त्याग नहीं कर सकते हैं। प्रेम, सहयोग, करुणा ये सब तो हमारी आत्मा के धर्म हैं जो कि अजर, अमर और नित्य हैं। इसलिये इन बाहरी क्लेशों को मिटाने के लिये धर्म की ओट में छुपाये जाने वाले स्वार्थ, अहंकार और ऊँच नीच के भेद-भाव को मिटा कर धार्मिक सहिष्णुता को अपनाना चाहिये।

मनुष्य जितना कंगाल है उससे भी कहीं अधिक वह दंभी और अहंकारी है। उसे अपने दंभ और अहंकार के प्रदर्शन के लिये कोई न कोई (निमित्त) जरिया चाहिये ही। धन, रूप, बल आदि ये सब अहंकार दिखाने के साधन

हैं। अहंकार को दिखानें के लिये इन सब साधनों का होना भी जरूरी होता है। धन के विना धन का अभिमान नहीं किया जा सकता है। इसी तरह रूप और वल का अहंकार भी इसके बिना नहीं किया जा सकता है। लेकिन धर्म का अहंकार इन सब अहंकारों से मनुष्य को कुछ प्यारा ही प्रतीत हुआ। उसने सोचा कि धर्म के अहंकार से दुनिया में इज्जत-आवरू मिलेगी, सर्वत्र बढ़ाई होगी परलोक सुधर जायगा, ईश्वर खुश होगा और स्वर्ग में स्थान भी रिजर्व हो जायगा। इस तरह उसे इहलोक और परलोक संवंधी दोनों ही तरह का सुख धर्म के अहंकार में दिख गया। दूसरी बात, धर्म कोई धन और वल की तरह दिखाने की तो चीज नहीं है, इसलिये धर्माभिमानी अपने आपको धर्मात्मा भी कहते फिरें तो उन्हें रोक कौन सकता है? इस तरह यह अहंकार बढ़ता गया और इसने ही सब लड़ाई-झगड़े पैदा किये। लेकिन कहावत है कि घमंडी का सिर नीचा।' अहंकार फिर भले ही वह धन का हो या धर्म का, हमेशा पतन का ही कारण होता है। हम आज इसे भूल से गये हैं। जैसे दूसरी वस्तुओं का अहंकार हमको जलाता है, वैसे ही धर्म का अहंकार भी जलाता है। चंदन शीतल होता है, पर चंदन की आग जैसे शीतल नहीं होती, वैसे ही धर्म की अहंकारिता भी धर्म की भाँति उत्थान नहीं कर सकती है। धर्म का अहंकार यानी पानी में भी आग का जल जाना है। जमीन पर कहीं आग लगी हो तो वह पानी से बुझाई जा सकती है, परन्तु पानी में लगी हुई आग कैसे बुझाई जाय? दुनिया का पाप तो धर्म से ही धोया जा सकता है, परन्तु धर्म में ही जब पाप घुस जाय तो उसे किससे धोया जाय? इसलिये धर्म में लगी हुई इस अहंकार

रूपी आग को हमें अलग कर देना चाहिये। ऐसा किये बिना हमारी शुद्धि नहीं हो सकती है और न शांति ही मिल सकती है।

संसार में चाहे जितनी धर्म संस्थाएँ क्यों न हों उनसे समाज को लाभ ही होगा। हानि होने की संभावना न रहेगी, बशर्ते कि वे सभी सच्ची धर्म संस्थाएँ हों। धर्म संस्थाओं के बारे में हमारा दृष्टिकोण ही यह हो जाय कि हम उन्हें स्कूलों की तरह समझ कर धर्मगुरुओं को अध्यापकों के स्थान पर मान लें, और उनके धर्मग्रंथों को पाठ्य पुस्तकों के स्थान पर समझ लें, तो इन सब झगड़ों की जड़ ही मूल से नष्ट की जा सकती है। जैसे स्कूलों की अधिकता होने पर भी शिक्षा में बाधा नहीं आती है, वैसे ही धर्म संस्थाओं की अधिकता से भी हानि नहीं हो सकेगी। सभी धर्मों का हेतु, जन-समाज में नीति और प्रीति के, सदाचार और प्रामाणिकता के संस्कार डालने का है, अतः सभी धर्मों के प्रति समदृष्टि रखना चाहिये।

दूसरे धर्मवालों को अपने धर्म में लाने की आज जो प्रथा चल पड़ी है वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि इससे वह न इधर का रहता है और न उधर का। उसकी भावना भी बिगड़ जाती है। जैसे कोई विद्यार्थी बार बार अपना स्कूल बदलता रहता है तो उसका अभ्यास बिगड़े बिना नहीं रहता, ऐसा ही हाल उसका भी हो जाता है। इसलिये किसीपर भी अपने धर्म का जबरन भार नहीं डालना चाहिये। यदि कोई हिन्दू हो तो उसे सच्चा हिंदू बनने दो मुसलमान हो तो उसे ईमानदार-प्रामाणिक मुसलमान बनने दो और जैन हो तो उसे वास्तविक विजेता बनने दो। उसके मार्ग में

बाधक मत बनो। लेकिन इतना अवश्य ध्यान रखो कि यदि वह अधर्म में है तो उसे धर्म-पथ पर लगाओ, अनीति में है तो नीति मार्ग सुझाओ, असत्य से सत्योन्मुख करो, दुराचारी हो तो सदाचारी और संयमी बनाओ। पर धर्म के विभिन्न नामों से मत घबराओ। धर्म का कोई भी नाम क्यों न हो, वस्तुतः वह धर्म ही है तो उसका नाम परिवर्तन करना निरर्थक है। सभी धर्मों ने कम-ज्यादा रूप में अहिंसा सत्यादि का पाठ पढ़ाया है जरा गहराई से देखेंगे तो सभी धर्मों ने समभाव का उपदेश भी दिया है। जैनधर्म तो दूसरे सभी धर्मों का अपने में समावेश ही कर लेता है। इसीलिये उसका दूसरा नाम अनेकान्त भी है। जिसमें कई धर्मों का अन्त हो उसी का नाम अनेकान्त है। जैनधर्म का या अनेकान्त का यही सीधा सा अर्थ है। सभी धर्मों को समा लेने वाला जैनधर्म किसी एक धर्म की अवहेलना कर बैठता है तो उसका अनेकान्त धर्म खण्डित हो जाता है। इसलिये जैनधर्म अपने अनेकान्त द्वारा असहिष्णुता और विषमभाव का खण्डन करता है।

हिंदू धर्म में भी यही बात कही गई है। श्रीमद्भागवत् गीता में कहा है—'सारी विभूतियाँ ईश्वर का ही अंश है।' बताइये अब राम और कृष्ण, महावीर और बुद्ध, ईसा और मुहम्मद में अंतर क्या रहा। सभी उस परम सत्य के ही तो अंश हैं न?

यही हाल इस्लाम का भी है। कुरान में एक लाख चौबीस हजार पैगम्बर होने का फरमान है। 'सूरे कातीर' में कहा गया है कि 'कोई कौम ऐसी नहीं जिसमें पैगंबर न हुए हों।' बताइये, क्या गलत कहा है? अक्ल तो हमारी मारी गई है कि हम इन सीधी सादी बातों को भी नहीं समझ पाते हैं।

इससे आप यह समझ गये होंगे कि सभी धर्मों ने अन्य धर्मों को अपनाया है। लेकिन उनके अनुयायी आज गलत रास्ते पर चले गये हैं। यही कारण है कि दूसरे धर्मों के साथ समन्वय की बात तो दूर रही, वे परस्पर में ही लड़-झगड़ रहे हैं। दूसरे धर्मों की मैं क्या बात करूँ, अनेकान्तात्मक जैनधर्म का ही आज अजीब हाल हो रहा है! दिगम्बर और श्वेताम्बरों में ही आज कहाँ पट रही है। सम्वत्सरी जैसे पवित्र पर्व के लिये दो साधु तो कोर्ट तक भी पहुँच गये! हरिजन-प्रवेश को लेकर कोई अनशन किये बैठे हैं? अनेक धर्मों का अन्त करने वाले आज मानव मानव को भी नहीं मिला सकता, क्या यही उसका अनेकान्त है? हमारे में (स्थानकवासी समाज में) भी अब दो भादवे आते हैं तब पहिले और दूसरे महीने में सम्वत्सरी करने के झगड़े उठ खड़े होते हैं। ऐसा ही हाल अन्य धर्मानुयायियों का भी है। यों सबने अपने अपने धर्मों को बड़ी खतरनाक स्थिति में डाल दिया है। ऐसी स्थिति में ये धर्म कैसे टिक कर रह सकेंगे?

धर्म को जिंदा रखने के लिये सभी धर्मों के गुणग्राहक बनना चाहिये। जैनधर्म की अहिंसा और अपरिग्रह, बौद्धों की मैत्री और दया, क्रिश्चियनों की प्रेम भावना, मुसलमानों का भातृ-भाव और हिन्दुओं की भक्ति को अपनाने से हम धर्म के रक्षक बन सकते हैं। मेरे और तेरे के झगड़ों से तो धर्म का विनाश ही होने वाला है।

दुनियादारी में भी जहाँ भाईचारा निभाया जाता है, तो वह धर्म में क्यों नहीं निभाया जा सकता है? आप जानते हैं कि दुकानदारी में सबसे सौदा किया जाता है। विवाह शादी में भी एक दूसरे के यहाँ पान सुपारी ली जाती है।

इस प्रकार दुनियादारी में जो कि झगड़े का स्थान है, वहाँ तो आप मेलजोल से काम लेते हैं और धर्म में जहाँ कि दुनियादारी के रगड़े-झगड़े एक क्षण भी नहीं चलने चाहियें वहाँ आज झगड़ों का बाजार गरम हो रहा है? यह कैसी उल्टी गंगा बह रही है?

बहुत से लोग धर्मशास्त्र में दर्शनशास्त्र, भूगोलशास्त्र, प्राणी-शास्त्र, इतिहास और ज्योतिष आदि को भी घुसेड़ कर झगड़े खड़े कर देते हैं। परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इनका धर्मशास्त्र से कोई संबंध नहीं है। धर्मशास्त्र का विषय तो नीति, सदाचार, प्रेम और मानवता का पाठ पढ़ाना है।

गणित के अनुसार दो और दो चार होते हैं। लेकिन कोई यह पूछे कि जैन धर्म के अनुसार दो और दो कितने होते हैं तथा हिन्दू धर्म के अनुसार कितने? तो आप उसे क्या कहेंगे? पागल ही तो कहेंगे न? पूना से नगर (अहमद नगर) ७२ मील की दूरी पर है। लेकिन कोई यह पूछे कि इस्लाम और बौद्ध धर्म के अनुसार इसकी दूरी कितनी है तो यह कम-ज्यादा होने वाली नहीं है। इस गणित या भूगोल पर किसी धर्म विशेष की छाप लगाना अनुचित ही नहीं अव्यवहार्य भी है। वह लग ही नहीं सकती। इसलिये इन सब का धर्मशास्त्र पर बोझ मत डालिये और उसे धर्मशास्त्र ही रहने दीजिये। दुनिया भर के शास्त्र और झगड़ों को धर्म शास्त्र पर डाल देने से धर्म आज बोझिल हो गया है। इस रहस्य को समझ कर दबे हुए धर्म को आज ऊपर उठाने की जरूरत है।

अगर आप सचमुच धर्मात्मा बनना चाहते हैं तो प्रेम, सेवा और त्याग का व्रत लीजिये झगड़ों में मत उलझिये।

इससे आप धर्म की रूह पहचान सकेंगे और उसके अन्तःस्तल तक डुबकी मार कर मोती पा सकेंगे।

एक बार महात्मा बुद्ध के प्रधान शिष्य आनंद ने उनसे पूछा—भगवन्? कई लोगों ने ईश्वर, ब्रह्मांड, परलोक आदि के बारे में कुछ न कुछ कहा है और कहते भी रहते हैं, पर आप कुछ भी क्यों नहीं कहते हैं?

बुद्धदेव ने आनंद को समझाते हुए कहा—आनंद, एक आदमी जंगल में जा रहा था। चलते-चलते उसके पैर में एक तीर लग गया और बड़े जोर से खून बहने लग गया। अब उसका पहला काम क्या है? खून बंद करना या तीर कहाँ से आया, किसने मारा, क्यों मारा? आदि की जाँच करना है?

आनंद ने कहा—उसका पहला काम बहते हुए खून को बन्द करना है। बुद्ध ने कहा—ठीक है आनंद। प्राणी मात्र इस दुनिया में तृष्णादि के घावों से परेशान हो रहा है। इन घावों को बन्द करना हमारा पहला काम है। फिर परलोक चाहे जैसा क्यों न हो, हमारे लिये अच्छा ही होगा।'

इस पर से आप भी भली-भाँति समझ सकते हैं कि झगड़ों में पड़ने से कोई लाभ नहीं है और न पड़ने की जरूरत ही है। धर्ममात्र मानव कल्याण के लिए है। इनमें आई हुई बुराइयों को छोड़कर अच्छाइओं को ग्रहण करने की भावना रखेंगे आप अनेकान्त को सार्थक कर सकेंगे। हमारा लक्ष्य सर्वधर्म समभाव या सर्वधर्म सहिष्णुता कायम रहेगा तो धर्म के नाम पर होने वाले लड़ाई-झगड़े दूर हो जायँगे और विश्व में शाँति की अभिवृद्धि होगी।

# आद्य शक्ति नारी और उसका कर्तव्य

विद्या के लिये मानव सरस्वती की पूजा करते हैं। सम्पत्ति की कामना हो तब लक्ष्मी की स्तुति की जाती है। और शक्ति के लिये कई एक काली माता की उपासना करते भी देखे जाते हैं। इस तरह विद्या, सम्पत्ति और शक्ति स्त्री-पूजा करने से प्राप्त होती हैं। इनमें से किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये किसी देव की या पुरुष की कोई पूजा नहीं करता है। पशुओं में भी सभी गाय माता की ही पूजा करते हैं। क्योंकि गाय पवित्र मानी जाती है और उसमें तैतीस करोड़ देवताओं का समावेश किया जाता है। इस प्रकार जैसे देवताओं में और पशुओं में स्त्री पूजा है वैसे ही मनुष्यों में भी क्या स्त्री-पूजा नहीं होनी चाहिये? महापुरुषों के नाम देखेंगे तो उसमें भी प्रथम स्त्रियों का ही नाम पायेंगे। सीता-राम, राधाकृष्ण; गौरी-शंकर इन सब नामों में स्त्रियों का नाम ही प्रथम है। माता-पिता शब्द में भी पहले माता का नाम है और फिर पिता का। सब कोई माता-पिता, माँ-बाप, बा-बापू इस प्रकार ही बोलते हैं। कोई भी पिता-माता, बाप-माँ, या बापू-बा कह कर नहीं बोलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सर्वत्र नारी का ही प्रथम स्थान है। हमारे कवि भी कह गये हैं कि—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता

'जहाँ स्त्री पूजनीय मानी जाती है वहाँ देवता भी क्रीड़ा करते हैं।'

स्त्री का इतना अधिक महत्व होने पर भी आज शक्ति का इतना पतन कैसे हो गया है ? इसका विचार करने पर ज्ञात होता है कि आज की स्त्री जाति विलास सागर में डूब कर अपनी शक्ति और कर्तव्य का भान भुला बैठी है। स्त्री-जाति को इस हद तक गिरा देने में पुरुषों ने भी उन्हें सहारा दिया है। स्त्रियों को अपनी गुलाम बना कर रखने के लिये उसको अपनी शक्ति का भान नहीं होने दिया और उसको विलास सागर में ही गोते लगाते रखा, जिससे वह अपनी कर्तव्य दिशा भी भूल गई।

पुरुष नारी को अबला कहते हैं। अबला कहना सचमुच स्त्रियों का अपमान है। स्त्री एक महान शक्ति है, वह अबला नहीं सबला है। यदि बल का अर्थ पशु बल किया जाय तो मानना पड़ेगा कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री में यह बल कम है। परन्तु यदि बल का अर्थ नैतिक बल से लिया जाय तो फिर यह मानना ही होगा कि पुरुष से भी स्त्री अधिक बलशाली है। अहिंसा की शक्ति पुरुष से भी स्त्री में ज्यादा है। महात्मा जी अहिंसक बल की आशा पुरुषों के बजाय स्त्रियों से ज्यादा रखते थे। पुरुषों का दिमाग भले ही अधिक विकसित हुआ हो, तब भी वह स्त्री-हृदय की गहराई तक नहीं पहुँच सकता है। स्त्री-हृदय में प्रेम, अनुराग और सहानुभूति की जितनी मात्रा होती है वह पुरुषों में उतनी नहीं पाई जाती है। एक विद्वान् ने कहा है—

Love is virtue of wamen.

अर्थात् प्रेम स्त्रियों का गुण है। स्त्रियों में स्वभावतः जाने अनजाने के प्रति भी प्रेम भाव होता है। इस प्रकार वह नैतिक बल में और अहिंसक बल में पुरुषों से अधिक बल-

वान् है। इससे वह सबला है। उसे अबला कहना अपराध है।

नारी, स्नेह-सेवा और सहिष्णुता की मूर्ति होती है। वह निराश बने हुओं को हिम्मत दे सकती है और निरसता में भी सरसता को पैदा कर सकती है। स्त्री थके हुए पुरुषों का विश्राम-स्थल और जख्मी हृदय की संजीवनी है। एक वार भारत के प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने भी बहिनों की सभा में भाषण देते हुए कहा था कि 'हिन्द के जख्मी हृदयों का इलाज स्त्रियाँ ही कर सकती हैं।' शरीर के ऊपरी घाव सुखाने में भले ही डाक्टर मददगार हो, परन्तु हृदय के घाव तो स्त्रियाँ ही मिटा सकती हैं। शरीर के घाव तो समय के प्रवाह के साथ साथ अदृश्य भी होते जाते हैं, परन्तु हृदय के घाव मिटना आसान नहीं है। यह कार्य स्त्रियों के सिवाय दूसरा कोई नहीं कर सकता है। टूटे हुए दिलों को मिलाने का काम स्त्रियों का ही है। स्त्रियों के सहयोग के बिना मनुष्य कोई भी काम नहीं कर सकता है। स्त्री कर्म रथ का एक पहिया है। जैसे एक पहिये से गाड़ी नहीं चल सकती है वैसे ही स्त्री के बिना अकेला पुरुष कोई कार्य नहीं कर सकता है। इससे स्त्रियों को पुरुषों के सब कामों में सहयोग देने के लिये तैयार रहना चाहिये।

वस्तुत: स्त्री अबला नहीं सबला है। जब-जब देश संकट में फँसा है तब-तब स्त्रियों ने देश को संकट से मुक्त करने में बहुत बड़ा साथ दिया है। अतीत की तो छोड़िये, वर्तमान में ही देखिये, बहिनों ने भारत की आजादी में कितना साथ दिया है। कई बार वे जेलों में गई हैं और कठिन यातनाएँ भी सही हैं।

बहिनों में आज जो जागृति पैदा हुई है उसका श्रेय महात्मा गांधीजी को ही है। उनके हृदय में स्त्रियोद्धार और हरिजनोद्धार के लिये बड़ी लगन थी। इस क्षेत्र में उन्होंने जो प्रयत्न किये उन्हीं का आज यह परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा है। पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने भी इसी तरह स्त्री-जन और हरिजन उद्धार का काम किया था।

स्त्री जागृति का बीज सर्व प्रथम महात्माजी ने अफ्रिका में बोया था। अफ्रिका की सरकार ने एक बार ऐसा कानून बनाया था कि ख्रिस्ती धर्म के अनुसार जिनके विवाह कोर्ट में दर्ज नहीं कराये गये होंगे ऐसे विवाह गैर-कानूनी माने जायँगे। गांधीजी ने जब यह सुना तो विचार किया कि अगर इस तरह विवाह गैर-कानूनी माने जायँगे तो बालक भी गैर-कानूनी माने जायँगे। इस तरह तो हिन्दुओं की सारी सम्पत्ति सरकार के हाथ में चली जायगी। बापू ने इस कानून का विरोध करना ठान लिया। परन्तु जब तक इस काम में स्त्रियों का सहयोग न मिले तब तक इसका आन्दोलन असर जनक नहीं हो सकता था। इसलिये उन्होंने 'बा से कहा—जनरल स्मट्स कहता है कि तू मेरी औरत, पाशवान (रखेल) है। अब तू क्या करेगी?' बा को उस समय अपनी शक्ति का भान नहीं था। अतः उन्होंने कहा—'हम तो औरतें हैं, हम से क्या हो सकता है?'

बापू ने कहा—जेल में जा।

बा ने कहा—हमसे जाना कैसे होगा?

बापू—'क्यों नहीं होगा? राम वन में गये थे तो सीता भी उनके साथ गई थी। मैं जेल में जाऊँगा तो तू क्यों नहीं जा सकेगी?

वा ने कहा—ठीक है, पर मैं खाऊँगी क्या ?

वापू—'फल खाना, न मिले तो उपवास करना और कदाचित् तू जेल में मर भी जायगी तो मैं आजीवन जगदम्बा के रूप में तेरी पूजा ही करता रहूँगा। स्त्री जागृति का वीज इन शब्दों में सर्व प्रथम अफ्रिका में बोया गया था।

आज पुरुषों का नैतिक पतन होता जा रहा है। स्त्रियाँ चाहें तो पुरुषों को इस नैतिक पतन से वचा सकती हैं। भारत की धर्म-प्राण वहिनें तनिक गहरे दिल से विचार करें कि उनको मौज-शौक में रखने के लिये उनके पतिदेव पैसा कहाँ से लाते हैं ? कितने पापों से वे पैसा पैदा करते हैं ? कितने गरीव और असहाय मानवों का शोषण कर यह पैसा पैदा किया जाता है ? इसका अगर वहिनें विचार करेंगी तो उनको अपनी रेशमी साड़ी से अपना शरीर जलता हुआ प्रतीत होगा, और हीरा मोती के गहनों से चिनगारियाँ निकलती हुई दिखाई देंगी। फिर उन्हें वड़े-वड़े वँगलों में रहना असह्य हो जायगा और वे अपने पति को सन्मार्ग पर लाने के लिये जरूर प्रयत्नशील रहेंगी। स्त्रियों को समझ लेना चाहिये कि वे अपने पति के काले वाजार के पैसों का ही उपयोग करती हैं। इससे वे भी पाप की भागीदार वनती हैं। वहिनों ! अगर तुम यह निश्चय कर लो कि हम काले वाजार के पैसों से अमन-चैन या भोग-विलास नहीं भोगेंगी तो नैतिक उत्थान कर सकोगी। कुदरत ने तुम्हें नैतिक वल की शक्ति प्रदान की है। तुम चाहो तो इसका आसानी से प्रयोग कर सकती हो।

लेकिन दुख की वात तो यह है कि आज वहिनें ही अधिकाधिक विलासी वनती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में वे

अपने पति देवों को काले बाजार के नाग-पाश से कैसे बचा सकेंगी ? बहिनों को अपना विलासी जीवन छोड़कर सादगी अपनानी चाहिये जिससे कि वे अपना जीवन उन्नत बना सकें। इससे वे अपनी शक्ति का परिचय सारी दुनिया को दे सकेंगी और साथ ही साथ पुरुषों को भी नैतिक पतन से उबार सकेंगी।

एक समय था, जब कि गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियाँ थीं, जिनके पास पुरुष भी ज्ञान प्राप्त करने के लिये जाते थे। झाँसी की रानी जैसी वीरांगना भी थी जिसके सम्मुख पुरुषों की हस्ती भी काँप उठती थी। आज भी राजकुमारी अमृतकौर भारत सरकार की प्रधान हैं। सरोजनी नायडू गवर्नर बनी थीं। आप सभी जानते हैं कि विजयलक्ष्मी पंडित अमेरिका में हिंदी राजदूत के रूप में सुंदर कार्य कर रही हैं। बहिनों को ऐसे आदर्श अपने सामने रखने चाहियें। और विलासी जीवन को त्याग कर सादा जीवन अंगीकार करना चाहिये। उन्हें अज्ञान को हटाकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। घर के क्षुद्र झगड़ों को दूर कर शांति कायम करनी चाहिये और इस तरह घर को रमणीय बना देना चाहिये। बहिनों को अपना जीवन सादा, पवित्र, नम्र और उन्नत बना लेना चाहिये।

आजकल दुनिया में समानता की हवा फैल रही है। स्त्रियों में भी जागृति आती जा रही है और वे भी पुरुषों की बराबरी करने का प्रयास कर रही हैं। परन्तु स्त्रियाँ पुरुषों की समानता में रहें इतना ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि पुरुषों की बुद्धि का तो दिवाला निकल चुका है। पच्चीस वर्ष के थोड़े से समय में ही पुरुषों ने दो विश्व युद्ध खेल लिये हैं और

आज तीसरे युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। हाइड्रोजन बम और ऐसे ही भयंकर अन्य शस्त्रों की शोध आज की जा रही है। स्त्रियाँ भी पुरुषों की बराबरी करने के लिये उनकी तरह फौजें तैयार करें तो यह समानता किसी काम की नहीं होगी। पुरुषों की समानता करने का काम आज स्त्रियों का नहीं है, बल्कि उनके द्वारा बिगड़े हुए काम को सुधारने का है। उनको अंकुश में लाने का है। पुरुषों की हिंसक वृत्ति को प्रेम-नीर से सींच कर अहिंसक बनानी है। उनकी स्वच्छंद मनोवृत्ति को संयमी बनानी है। इस प्रकार स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी ही नहीं करनी है, परन्तु उनसे आगे भी बढ़ना है।

स्त्रियों का दूसरा महत्वपूर्ण कर्तव्य अपने बालकों पर सुसंस्कार डालने का है। भावी प्रजा को सुधारने का सारा आधार माता पर ही रहता है। क्योंकि बालक का बाल्यकाल माता की गोद में ही बीतता है। वह खाता है तो माता की गोद में बैठकर, खेलता है तो माता की गोद में, और सोता है, तो माता की गोद में ही। यों उसका अधिकाधिक समय माता के निकट सहवास में ही व्यतीत होता है। इसलिये उसका जीवन निर्माण भी माता के हाथ में ही होता है। बालक का हृदय कैमरा की तरह होता है। कैमरा के सामने जैसा दृश्य होता है वैसा ही उसमें भी प्रतिबिम्बित होता है। इसी तरह बालक भी जो कुछ देखता है तदनुसार ही उसका जीवन बनता जाता है। मतलब यह कि, बालकों का हृदय अनुकरणशील होता है। वह माता को जो काम करते देखता है वही खुद भी करने लग जाता है। माता चाहे तो अपने पुत्र को अपने आचरण से सदाचारी, शांत, वीर और गंभीर बना सकती है। उसके आचरण में दिव्य शक्ति रही

हुई है। माता का आचरण ही बालक के लिये अपने जीवन का खुला पाठ होता है जो उसे अपने आप ही कर्तव्य-प्रेरित कर देता है।

जो वस्तुएँ कोमल होती हैं, उन पर दूसरों का प्रभाव शीघ्र पड़ जाता है। कोमल डालियों को माली चाहे जैसे मोड़ सकता है। मिट्टी के कच्चे घड़े को कुम्हार चाहे जैसी आकृति दे सकता है। कच्चे बांस को चाहे जिस तरफ मोड़ा जा सकता है। इसी तरह माता भी चाहे जैसा पुत्र बना सकती है। बालकों की बुद्धि, प्रकृति और हृदय सरल होता है। जैसे सफेद कपड़े पर चाहे जैसा रंग चढ़ाया जा सकता है, वैसे ही बालकों के हृदय पर भी चाहे जैसा रंग चढ़ाया जा सकता है। माता बालक को मार-पीट कर सदाचारी नहीं बना सकती है वह अपने आचरण से ही बालक को सदाचारी बना सकती है। बालक का जीवन तो धातु के रस जैसा है। माता-पिता का जीवन रूपी संचार जिस आकार का होगा उसी आकार में बालक का जीवन-रस भी परिणत हो जायगा। यदि सामने देव मूर्ति का साँचा होगा तो बालक का जीवन-रस भी उस साँचे में ढल कर देव मूर्ति का आकार ग्रहण कर लेगा। और यदि पशु-आकृति का साँचा होगा तो वह रस भी उसमें ढल कर पशु-आकृति धारण कर लेगा। रस तो एक ही समान है, परन्तु जैसे उसका भावी आकार सामने के साँचे पर आधारित होता है, वैसे ही बालकों के हृदय तो पवित्र ही होते हैं, परन्तु उनका भावी निर्माण माता के जीवन पर ही आधारित होता है।

बालक को संस्कारी बनाने के लिये माता को रोज सुबह शाम बालक को अपने पास बैठा कर प्रभु स्मरण या प्रार्थना

करनी चाहिये। उनको धर्म स्थान में ले जाना चाहिये और संत पुरुषों के दर्शन कराना चाहिये। दीन-दुखियों को उनके हाथों से अन्न-वस्त्रादि दिलाने चाहियें जिससे कि उनके दिलों में भी दया के भाव पैदा हों। पशु-पक्षियों की दया और चलते समय जीव-जन्तुओं की यतना करने के संस्कार भी उनमें डालने चाहियें। बालकों को बातें सुनने का बड़ा रस होता है अतः उन्हें महापुरुषों की बातें सुनानी चाहियें। जिससे उनके दिलों में भी वैसा बनने की भावना जाग्रत हो। स्वामी विवेकानन्द जब छोटे थे तब उनके घर में एक बुड्ढी माँ रोज दुपहर को रामायण और भागवत आदि धर्म ग्रन्थ बाँचा करती थी। आस-पास की सब स्त्रियाँ वहाँ आ जाती थीं और उसे सुना करती थीं। विवेकानन्द भी रोज यह सुना करते थे और शाम को यही कथाएँ वे पुनः अपनी माता को सुनाया करते थे। इस तरह उनके जीवन में धार्मिक संस्कार पड़े थे। इसी तरह आज भी हर एक घर में धार्मिक कथा करने का प्रचलन हो तो बालक का जीवन संस्कार शील बन सकता है। परन्तु दुख की बात तो यह है कि माताएँ आज बालकों को धर्म कथा सुनाने के बदले सिने-माओं और थिएटरों में ले जाती हैं। वहाँ जाने से बालक प्रायः कुसंस्कार ही ग्रहण करते हैं। वहाँ कई चरित्रहीन मानव और बीड़ी आदि के व्यसनी पुरुष उसके सामने आते हैं जिससे बालकों के हृदय में भी वैसे ही संस्कार घर करने लग जाते हैं। अतः माताओं को इस तरह के वातावरण से बालकों को बचाने के लिये सदैव जागृति रखनी चाहिये।

कई बार बालक अपने आस-पास के पड़ौसियों के बालकों के साथ खेलने से गालियाँ देना और अपशब्द बोलना सीख जाते हैं। माताओं को चाहिये कि वे इस तरफ पूरी साव-

धानी रखें और उन्हें ऐसे वालकों के साथ खेलने न दें जिससे कि इनकी आदत बुरी बन जाय। वालक हँसते मुँह से धीरे और मधुर वोले ऐसी आदत डालनी चाहिये।

आपको मालूम होगा कि शिवाजी और प्रताप को साहसिक वनाने वाली माताएँ ही थीं। शंकराचार्य को ज्ञान के शिखर पर पहुँचाने वाली भी उनकी माता ही थी। महात्मा गांधीजी को भी उनकी माता ने ही महात्मा वनाया था। गांधीजी जव पढ़ने के लिये विलायत जा रहे थे तव उनकी माता उनको वेचरदासजी नामक एक जैन साधु के पास ले गई थी। साधुजी से उन्होंने गांधीजी को मांसाहार और शराव पीने का त्याग कराया था। साथ ही साथ गांधीजी को पत्नीव्रत पालन करने की भी प्रतिज्ञा कराई थी। थोड़ी देर के लिये आप विचार कीजिये कि गांधीजी को उनकी माता ने ये प्रतिज्ञाएँ न कराई होतीं और वे विलायत में जाकर इनके फंदे में फँस गये होते तो क्या वे महात्माजी वन सकते थे? रानी मंदालसा का उदाहरण आपके सामने ही है। उसने अपने सातों पुत्र महान् त्यागी पुरुष वना दिये थे। उसका 'पालना' आजकल की स्त्रियों की तरह न था। वह अपने वालकों को सोते-जागते, हँसते, खेलते और स्तन पान कराते समय भी वैराग्य रस के गीत सुनाती रहती थी। इसी का प्रभाव था कि वे सव राजकुमार होते हुए भी त्यागी पुरुष वन गये थे। मेरी वहिनों को भी अपनी सन्तानों को उच्च चरित्र शील वनाने के लिये रानी मंदालसा का यह आदर्श याद रखना चाहिये।

वहिनों को अपने सुवह के कामों से निवृत्त होने पर दुपहर का जो समय मिलता है, उसे उन्हें गप-शप में व्यतीत

नहीं कर देना चाहिये। उस फालतू समय का उपयोग उन्हें प्रौढ़ शिक्षण लेने में या अन्य सेवा कार्य करने में व्यतीत करना चाहिये।

वहिनों को अपना घर स्वच्छ, सुघड़ और व्यवस्थित रखना चाहिये। कोई भी वस्तु सड़े गले या विगड़े नहीं इसकी सावधानी रखनी चाहिये। अपना हर एक कर्त्तव्य उन्हें प्रेम और धीरज से करना चाहिये। पुरुष यदि गैर मार्ग पर चलने लग गया हो तो उसे सन्मार्ग पर लगाना भी स्त्रियों का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है। सास और ससुर को उन्हें अपने माता और पिता समझने चाहियें उनकी सेवा करने में प्रेम और आनन्द का अनुभव करते हुए अपनी जिन्दगी की सफलता माननी चाहिये। उनकी सेवा करने में तनिक भी असावधानी या हिच-किचाहट नहीं करनी चाहिये। देवराणी, जेठानी, और ननदों को अपनी छोटी-बड़ी वहिनों की तरह रखना चाहिये। और इस तरह उन्हें अपने घर को नन्दन वन बना देना चाहिये। अपने कुटुम्ब के सब आदमियों को विनय और प्रेम से अपना बना लेना चाहिये। गुलाव के फूल की तरह बन कर सबको अपने कुटुम्ब में प्रेम की सुवास फैलानी चाहिये।

अपने घर को नन्दनवन वनाने के लिये प्रेम, त्याग, व्यवहार कुशलता और स्वभाव की माधुर्यता होना जरूरी है। मूल वस्तु जो है, वह प्रेम है। अगर यह कम रहा तो मूल पाया ही कमजोर रह जायगा। दूसरी वस्तु त्याग न हो तो जीवन का निर्माण ही कमज़ोर हो जायगा। व्यवहार कुशलता न रही तो सुख-सामग्रियों का अभाव हो जायगा। और चौथी वस्तु स्वभाव की माधुर्यता न हुई तो सौन्दर्य फीका पड़ जायगा। इन चारों वस्तुओं के पूर्ण मिलान से ही घर को नन्दनवन बनाया जा सकता है।

बहिनों! तुम्हारे में अपूर्व शक्ति भरी हुई है। तुम चाहो तो उसे प्रकट कर सरस्वती बन सकती हो, लक्ष्मी बन सकती हो, और शक्ति की वरदात्री काली बन सकती हो। आज की दुनिया जिस रूप में तुम्हें देखने और समझने की आदी बन गई है, उसे अपने ज्ञान ऐश्वर्य और शक्ति का सच्चा परिचय करा दो। इससे आप अपना कर्त्तव्य तो पालन करेंगी ही, पर साथ ही साथ गुमराह दुनिया को भी सच्ची राह दिखा सकोगी।

# जीवन का निर्माण

एक आदमी राजमहल बनाने का काम शुरू करता है, जैसे-जैसे उसका निर्माण कार्य आगे बढ़ता है, वैसे वैसे वह भी ऊपर चढ़ता जाता है। दूसरा आदमी कुआ खोदने का काम हाथ में लेता है। जैसे-जैसे उसका खोदना आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे वह भी नीचे उतरता जाता है। ऐसी ही स्थिति मानव-जीवन की भी है। सत्कर्म करने वाले मानव का जीवन ऊँचा चढ़ता जाता है और दुष्कर्म करने वाले का जीवन उत्तरोत्तर नीचे उतरता जाता है।

कारीगरों को काम करने के लिये औजारों की जरूरत होती है। ऐसे ही मानव को भी काम करने के लिये मन, वचन और काया के तीन औजार मिले हुए हैं। मनुष्य के ये तीन कर्म करने के साधन हैं। कारीगर अपने औजारों से राज-महल भी बना सकता है और उन्हीं औजारों से कुआ भी खोद सकता है। ऐसे ही मनुष्य भी अपने मन, वचन और काया द्वारा सत्कर्म करके जीवन को उन्नत बना सकता है और इन्हीं से दुष्कर्म करके अपने जीवन को पतित भी कर सकता है।

मन, वचन और काया से दस प्रकार के अधर्माचरण और दस ही प्रकार में धर्माचरण किये जा सकते हैं। जैसे कि—पर-द्रव्य की इच्छा करना, दूसरे के विनाश की कामना करना और नास्तिक दृष्टि रखना मानसिक दुष्कर्म हैं। ये तीनों मन के अधर्ममय आचरण हैं। इनसे विपरीत पर-द्रव्य

को मिट्टी के समान समझना, दूसरों पर प्रेम-भाव रखना यानी प्रशस्त भावना रखना और आस्तिकता यानी सत्य, अहिंसा, मैत्री आदि में श्रद्धा रखना मानसिक धर्माचरण हैं। ये तीनों मन के शुभ आचरण हैं। असत्य बोलना, चुगली खाना, अपशब्द बोलना और वृथा बकवाद करना ये चार वाणी के दुष्कर्म हैं। इनसे विपरीत सत्य बोलना, टूटे हुए दिल जुड़ जायँ ऐसी मधुर वाणी बोलना, अपशब्द न बोलना, और वृथा बकवाद न करना ये चार वाणी के सत्कर्म हैं। प्राणीघात, चोरी औरपर-स्त्री की अभिलाषा करना ये तीन काया के दुष्कर्म हैं। इनके विपरीत अहिंसा, अचौर्य और सदाचार ये तीन काया के सत्कर्म हैं। इस प्रकार मन, वचन और काया से दस प्रकार के शुभ और अशुभ कर्त्तव्य किये जा सकते हैं।

अब हमें देखना यह चाहिये कि हम अपने मन, वचन और काया के औजारों से राज-महल निर्माण का काम कर रहे हैं, या कुआ खोदने का ? दूसरे शब्दों में, हम शुभ योग में प्रवृत्ति कर रहे हैं या अशुभ योग में ?

मन के तीन पापों में से एक पाप नास्तिकता भी है। नास्तिकता, धर्म का विघातक तत्त्व है। सत्य अहिंसा आदि में अश्रद्धा रखना नास्तिकता है। इससे विपरीत सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा आदि गुणों में श्रद्धा रखना आस्तिकता है। कोई मनुष्य धर्म स्थानक में न जाता हो या बाह्य क्रियाएँ न करता हो तो इतने मात्र से ही उसे नास्तिक समझ लेने का कोई कारण नहीं है। यदि वह मनुष्य प्रामाणिक हो, कभी असत्य न बोलता हो, सब जीवों पर प्रीति रखता हो, तो उसमें आस्तिकता का अंश मानने में कोई एतराज नहीं हो

सकता है। इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य प्रतिदिन धर्म स्थानक में जाता हो और धर्म चिह्न रखता हो, परन्तु वही दुकान में बैठकर असत्याचरण करता हो, ग्राहकों को ठगता हो, कोर्ट में झूठी गवाही देता हो, शाक में नमक कम होने पर थाली फेंक देता हो, तो क्या यह उसका आस्तिकपन कहा जायगा? सत्य बोलने में जिसको तनिक भी श्रद्धा न हो, दूसरों का भला करने से मेरा भी भला होगा, इस पर जिसको विश्वास न हो, तो ऐसा मनुष्य भले ही मन्दिर-मस्जिद या धर्म स्थानकों की सीढ़ियाँ घिस डाले, परन्तु ज्ञानियों की नजरों में वह आस्तिक नहीं माना जा सकता है। ऐसा मनुष्य आस्तिक नहीं, पर अन्धश्रद्धालु कहा जायगा। आस्तिकता और अन्धश्रद्धा में बड़ा भारी अन्तर है। नास्तिकता की तरह अन्धश्रद्धा भी धर्म का प्राणहरण कर लेती है।

अंध श्रद्धा को हम नास्तिकता की दूसरी बाजू ( Side ) कह सकते हैं। दोनों एक ही तरह धर्म का प्राण हरण कर रहे हैं। हम अपनी अंधी श्रद्धा और अंधी अश्रद्धा इन दोनों से बच कर सच्ची श्रद्धा प्राप्त करें तो यह मानसिक धर्माचरण कहा जायगा। लेकिन आज तो जहाँ देखो वहाँ धर्म के नाम पर अंध श्रद्धा का ही साम्राज्य व्यापक बना हुआ है।

अंध श्रद्धालु, हरिजन को छू जाने में धर्म का नाश मान बैठते हैं परन्तु उसका घर-बार उजाड़ देने में, करुणा अनुकम्पा, अहिंसा और दया धर्म का नाश होता है, यह वे नहीं देख सकते हैं। वे हरिजन का भोजन लेने में भ्रष्टता समझते हैं। परन्तु उनकी मालमिल्कत को हजम कर जाने में भ्रष्टता नहीं समझते हैं।

कोई विधर्मी गाय को कत्ल कर दे तो बाजारों में हड़ताल कर दी जायगी। हड़ताल के रूप में उसके दुष्कृत्य की निंदा

की जायगी। और इसके लिये ऐसा करना उचित भी है। परन्तु दूसरी तरफ यदि कोई नई मील शुरू करे तो उसका अभिनंदन किया जायगा। उसके मान में चाय-पार्टी दी जायगी और खुशी व्यक्त की जायगी। क्या ऐसा करना भी ठीक कहा जा सकता है? इस पर तनिक विचार करेंगे तो यह समझ सकेंगे कि एक मील के पीछे कितने पशुओं की हिंसा रही हुई है? दूसरों के द्वारा की गई गाय के कत्ल पर जितना गहरा दुख और तिरस्कृत भावना हृदय में पैदा होती है, उतनी ही तिरस्कृत भावना चरबी के वस्त्र पहनने में, खरीदने में या बेचने में भी पैदा होनी चाहिये। तभी वे सच्चे आस्तिक कहे जा सकेंगे।

कोई पुरुष नीच जाति की स्त्री के साथ में भी स्वेच्छाचार कर लेगा तो उसे कोई नहीं पूछेगा, परन्तु उसके हाथ का खा लेने पर तो उसे धर्म भ्रष्ट करार दिया जायगा। कैसी विचित्र बात है यह? धर्म भ्रष्टता खाने में है या व्यभिचार में?

सामायिक में अबोध बालक बालिका के छू जाने पर उसका प्रायश्चित्त लेने के लिये तो कई भाई बहिन आते हैं, परन्तु सामायिक में निंदा-विकथा या क्रोध किया हो तो उसका प्रायश्चित्त लेने के लिये कोई नहीं आता !!

उपाश्रय में हीरा, मोती, माणिक के गहने और रेशमी वस्त्र पहन कर आने वालों को कोई नहीं रोक सकता है, उल्टा उन्हें सबसे आगे स्थान दिया जाता है। परन्तु कोई इन महारंभी वस्त्रों से बचने के लिये सूत कातने का विचार करे तो इसे पाप समझ कर तुरन्त अटका दिया जायगा।

यह सब अन्धश्रद्धा नहीं तो और क्या है? यही अन्धश्रद्धा आज धर्म के प्राणों का बुरी तरह से हनन कर रही है। क्या

यह अन्धश्रद्धा भी नास्तिकता की तरह भयंकर नहीं कही जा सकती है ?

साधु-मुनि कागज लिखावें, तार करावें या पुस्तकों के पार्सल करावें तो उनको कुछ नहीं पूछा जाता है, परन्तु यदि वे एक कागज टपाल में जाकर डालने का विचार प्रदर्शित करें तो समाज में इससे ऊहापोह मच जाय। इसमें साधुता का नाश है, तो क्या उपर्युक्त प्रवृत्तियों में साधुता का नाश नहीं है ? फिर भी उपेक्षावृत्ति क्यों रखी जाती है।

कोई साधु सहज भाव से व्याख्यान बाँचते हों और श्रोताजन नहीं सुन सकने की वजह से अपनी सुविधा के लिये सब सुन सकें ऐसे साधन का प्रयोग करने का विचार प्रदर्शित करें तो इससे समाज का एक वर्ग चौखला उठेगा। परन्तु वही साधु यदि पुस्तकें छपवाते होंगे, सामाजिक कार्यों के लिये पैसा इकट्ठा कराते होंगे, वरघोड़ा निकलवाते होंगे तो इनमें वही वर्ग धर्म-उद्योत समझेगा। क्या साधुजी को दोष नहीं लगता ?

कदाचित किसी साधु को आपत्ति के समय वाहन का उपयोग करने की डाक्टर सलाह दे तो इससे समाज में भारी हलचल मच जायगी। परन्तु वही साधु पत्रिका छपवा कर, पत्र लिखा कर, तार करा कर हजारों दर्शनार्थियों को अपने दर्शनार्थ बुलावें और उसमें ही धर्म की प्रभावना समझें तो क्या यह अन्धश्रद्धा नहीं है ?

कोई साधु प्राणांत के समय सचित्त पानी का स्पर्श कर लें तो समाज उसका साधुपना भंग हुआ समझ लेता है। सिद्धान्ततः ठीक भी है। परन्तु चातुर्मास के लिये, तप के लिये, पद समारोह आदि प्रसंगों पर हजारों दर्शनार्थियों के

लिये आरम्भ-समारम्भ का आदेश-उपदेश किया जाय तो उसमें साधुपना भंग हुआ, समाज नहीं मानता है। क्या यह अन्धश्रद्धा नहीं है ?

किसी श्रावक ने किसी साधु के पास पोस्ट की टिकिटें देख ली हों तो श्रावक उस साधु को साधु नहीं मानता है। सच है, मानना भी नहीं चाहिये। परन्तु ऐसे साधु अपनी पुस्तकों के लिये संस्थाओं के लिये अथवा कुटुम्बियों के पोषण के लिये हजारों रुपये इकट्ठे करें—करावें और अपने शिष्य बनाने के लिए उनके माता-पिता को हजारों दिलावें तो इनमें उनका पाँचवाँ व्रत खंडित होता है, ऐसा किसी को भी नहीं लगता है। कहिये, यह भी अन्धश्रद्धा का ही एक नमूना है न?

साधु नीचे देखे विना न चले, कदाचित् चल जाय तो समाज उनको दोषी समझे। परन्तु जो साधु अपने को लाने और पहुँचाने के लिये सैकड़ों मनुष्य आवें और जावें ऐसी प्रेरणा करें तो उसमें साधुता का भंग न समझना भी अन्ध-श्रद्धा ही कहना चाहिये।

इस प्रकार की अन्धश्रद्धा अपने समाज में तथा अन्य समाज में फैली हुई है। एक वर्ग, जहाँ ऐसा अन्धश्रद्धालु है, वहाँ दूसरा वर्ग बिल्कुल नास्तिक बनता जा रहा है। धर्म को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिये और जीवन को उन्नत बनाने के लिये समझ पूर्वक सच्ची श्रद्धा—अहिंसा, सत्य, प्रेम, मैत्री आदि पर विश्वास और आस्तिकता प्राप्त करनी चाहिए।

पर-द्रव्य की इच्छा करना यह दूसरा मानसिक अधर्मा-चरण है। आप सब साहूकार हैं, दूसरे का ताला तोड़ कर द्रव्य-हरण की इस असभ्य चोरी से तो आप सब मुक्त हैं।

परन्तु दूसरी तरह से देखा जाय तो मनुष्य पर-द्रव्य की इच्छा से वंचित नहीं रह सका है। कन्या विक्रय और वर-विक्रय ये पर-द्रव्य की इच्छा के ही परिणाम हैं। आज शिक्षित वर्ग में कन्या विक्रय तो घटता जा रहा है, परन्तु इसके स्थान पर वर-विक्रय बढ़ता जा रहा है। ग़रीब घराने की पढ़ी-लिखी कन्याओं को भी इस वर-विक्रय के रोग से योग्य स्थान नहीं मिल पाता है। कई एक कोलेजियन तो सगाई करने से पहले पढ़ने के खर्च के साथ-साथ रोकड़ रक़म की भी माँग करते सुने गये हैं। यह पर-द्रव्य की इच्छा नहीं तो और क्या है ? सुधारक और शिक्षित युवकों के लिये यह एक कलंक की बात है। स्वावलम्बी बनने वाले युवकों के लिये यह शोभा की बात नहीं है। उन्हें अपनी इस निर्बलता को शीघ्रातिशीघ्र दूर कर देना चाहिये। पारसी और पाटी-दार कौम में तो इस वर-विक्रय प्रथा ने बड़ा भारी जोर पकड़ रखा है। पाटीदार कोम में कई भाग्यहीन कन्याएँ तो इस प्रथा का ही भोग बन जाती हैं। यहाँ तक सुना जाता है कि इस कौम में कई कन्याओं को जन्मते ही मार दिया जाता है। पर-द्रव्य हरण की अभिलाषा का यह सभ्य रूप कितना भयंकर है !!

अधिक ब्याज खाने की मनोवृत्ति, अनुचित नफा खाने की वृत्ति, अनाथ विधवाओं की सम्पत्ति दबा देने की वृत्ति में, सब पर-द्रव्य हरण के ही प्रकार हैं। आप मेहनत किये बिना दूसरे की मेहनत पर निर्वाह करना भी उसमें आ जाता है। आज प्राय: सभी विभागों के अधिकारियों में लांच-रिश्वत खाने का धन्धा खूब जोर-शोर से चल रहा है। अत: इन सभी पर-द्रव्य हरण की वृत्तियों को दूर कर 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्' जैसी आदर्श वृत्ति को ही बढ़ाना चाहिये।

दूसरे के विनाश की इच्छा करना तीसरा मानसिक अधर्माचरण है। पर-विनाश में स्व-विनाश भी रहा हुआ है, अतः बुद्धिमान व्यक्ति को कभी भी पर-विनाश की इच्छा नहीं करनी चाहिये। इस वृत्ति के स्थान पर उसे सब जीवों के प्रति कल्याण कामना करनी चाहिये।

असत्य बोलना, चुगली खाना, असभ्य भाषा बोलना और निरर्थक बोलना, ये चार वाणी के दोष हैं। जिसकी वाणी ऐसे दोषों से भरी हुई हो, उसका जीवन उत्तरोत्तर पतित होता जाता है। परन्तु जिसकी वाणी सत्य हो, जिसकी भाषा में मिठास हो, जिह्वा से जो कभी अपशब्द न बोलता हो, और जो तोल-तोल कर शब्द निकालता हो, वह मानव राजमहल के बनाने की तरह उत्तरोत्तर ऊपर ही चढ़ता जाता है। जेब में से एक पैसा निकाल कर खर्च करने से पहले जैसे सब कोई उसकी आवश्यकता का विचार करते हैं, वैसे ही मुँह में से भी एक शब्द निकालने से पहले उसकी आवश्यकता पर विचार कर लेना चाहिये। हर एक मानव को विचार पूर्वक सत्य और प्रिय ही बोलना चाहिये।

प्राणीघात, चोरी और पर-स्त्री की इच्छा, ये तीन काया के दुष्कर्म हैं। इससे विपरीत अहिंसा, अचौर्य और सदाचार ये तीन काया के सत्कर्म हैं। आप प्रत्यक्षतः तो किसी जीव को मारना नहीं चाहेंगे। क्योंकि जन्म से ही आपको अहिंसा के परम्परागत संस्कार मिले हुए हैं। कुंथवा को मारने के लिये कोई आपको पाँच लाख रुपये भी दे, तो भी आप कुंथवा मारने की हाँ नहीं भरेंगे। क्योंकि ऐसे ही सुसंस्कार आपको जन्म से मिले हुए हैं। परन्तु आपके ये संस्कार दिन प्रतिदिन रूढ़ होते जा रहे हैं और विवेक का आप में अभाव होता जा

रहा है। प्रत्यक्ष में आप किसी की घात नहीं करेंगे और इसके लिये पाँच लाख रुपया भी छोड़ देंगे, परन्तु दूसरी तरफ आप खुद ही अपने व्यापार-धन्धों और रहन-सहन के विविध प्रकारों से मानव-संहारक युद्धों के मददगार बन रहे हैं। जिसका आप कभी विचार भी करते हैं? प्रत्यक्ष में आप हिंसा करना नहीं चाहते हैं, परन्तु परोक्ष में आप स्वयं हिंसा में भागीदार बन रहे हैं। विलासी वस्तुओं का आप अपने जीवन में जो उपयोग करते हैं। उनका सब पैसा विदेशों में चला जाता है, जिनसे वहाँ संहारक शस्त्र तैयार किये जाते हैं। युद्ध होता है तब सभी वस्तुओं के भाव ऊँचे चढ़ जाते हैं और व्यापारी बड़े खुश हो जाते हैं। आप अगर सोच-समझ सकते हैं तो इसे मानने में एतराज नहीं करेंगे कि व्यापारियों की इस खुशी में भी मानव-संहार का अनुमोदन ही रहा हुआ है। हमारी ये बहिनें जिन्हें दया की मूर्ति ही कहना चाहिये, ज्योर्जेट की साड़ियाँ पहनती हैं और हीरा मोती के गहनों से अपने शरीर को सुशोभित करती हैं। परन्तु क्या वे कभी इसका भी विचार करती हैं कि यह सब पैसा बिना मेहनत के कहाँ से और कैसे आता होगा? विश्व-युद्ध को अटकाने की सामर्थ्य यदि उनमें नहीं है तो उन्हें उसमें मदद-गार भी नहीं बनना चाहिये। जिन जिन वस्तुओं के उपयोग से या व्यापार से युद्धों को सहारा मिलता हो, उन-उन वस्तुओं का उपयोग और व्यापार न करने का निश्चय आप चाहो तो जरूर कर सकते हो।

सेवाग्राम में हुई विश्व-शान्ति परिषद् में भाग लेने के लिये स्वीडन से एक 'स्वेन ऐरिक राइबर्ग' नामक शांतिवादी प्रतिनिधि भी आया था। उसकी उम्र ३२ वर्ष की थी। पहले वह एक चित्रकार था और सिनेमा आदि के लिये काम करता

था। उसे इसमें खूब पैसा मिलता था। परन्तु जब उसे यह मालूम हुआ कि उसके काम का उपयोग युद्ध के लिये होता है तो उसने अपना यह काम छोड़कर खेती करना स्वीकार कर लिया था। आप जैन हैं और अहिंसाधर्म की बड़ी गहरी बातें भी करते रहते हैं, परन्तु क्या आप बीस लाख जैनों में से एक भी ऐसा जैन बता सकेंगे जिसने युद्धों को अटकाने के लिये और मानव हिंसा का निमित्त नहीं बनने के लिये ऐसा कोई काम किया हो ? इस प्रकार अपने व्यवसाय की शुद्धता का सोच-विचार करने वाले कोई विरले ही मिल सकेंगे।

अहिंसा धर्मियों को तो युद्ध का सक्रिय विरोध ही नहीं करना चाहिये, परन्तु इसके लिये कुछ सहन भी करना पड़े तो सदैव तत्पर रहना चाहिये। पच्चीस वर्ष के थोड़े से समय में ही दो विश्व-युद्ध खेले जा चुके हैं और आज तीसरे विश्व युद्ध की भी बातें सुनी जा रही हैं। युद्धों से मनुष्यों की जो खुँवारी होती है उससे भी मानवता की खुँवारी ज्यादा भयंकर होती है। युद्धों का प्रभाव मानव के नैतिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता है। आज का नैतिक पतन गत महायुद्ध का ही आभारी है। महाभारत युद्ध का प्रभाव भी उसके बाद सैकड़ों वर्षों तक मानव के नैतिक जीवन पर बना रहा था। दूसरे विश्व-युद्ध का प्रभाव तो इतना गहरा हुआ है कि नैतिक जीवन का उद्धार कब तक हो सकेगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इस पर भी यदि तीसरा महायुद्ध हो गया तो उसका असर कैसा होगा और कब तक बना रहेगा, कुछ नहीं कहा जा सकता है।

आज युद्ध का विरोध करने वाले बहुत कम शांतिवादी हैं लेकिन जितने भी हैं, वे सब युद्ध-विराम के लिये सक्रिय

कोशिश कर रहे हैं। हिन्द की शांति परिषद् में भाग लेने के लिये एक जर्मन प्रतिनिधि भी आया था। जिसका नाम हेनरी चक्र संचुट्जी है। युद्ध का प्रबल विरोध करने से इसको अपने जीवन में बहुत कष्ट सहने पड़े हैं। कई बार उसे जेल में भी जाना पड़ा है। सन् १६३२ में जब वह गिरफ्तार किया गया था तब उसे ३० वर्ष की सजा दी गई थी। परन्तु बीच में ही उसे किसी कारण से सन् १६४५ में छोड़ दिया गया था। अहिंसा सिद्धान्त के खातिर १३ वर्ष तक जेल-जीवन व्यतीत करने वाला क्या कोई भाई हमारे यहाँ भी मिल सकेगा? आप ऐसा न कर सकें तो कम-से-कम इतना तो जरूर निश्चय कीजिये कि जिन-जिन वस्तुओं के उपयोग से युद्ध अनिवार्य हो जाता हो, उनका उपयोग करना ही बन्द कर दें।

रूस में कवेकर नाम का एक धर्म सम्प्रदाय है। जिसके अनुयायी अहिंसा धर्मी हैं। वे शाकाहारी होते हैं। सन् १६४० में जबकि रूस और जापान में युद्ध छिड़ गया था, तब इस सम्प्रदाय के लोगों को भी सेना में जबरन भरती होने को कहा गया था। परन्तु ये लोग युद्ध विरोधी थे अतः भरती न हुए। फलस्वरूप कइयों को मृत्युदण्ड भुगतना पड़ा था। उनमें से कुछ लोग, जो कि टालस्टाय की मदद से अमेरिका जा पहुँचे थे, वे सब वहाँ खेती द्वारा अपना निर्वाह करने लग गये थे। इस प्रकार उन्होंने अपने अहिंसा धर्म के खातिर मर जाना कबूल कर लिया था, परन्तु अपने धर्म से विमुख होना न चाहा था। क्या ऐसी धर्म-प्रियता हमारे यहाँ भी कहीं मिल सकेगी? धर्म के नाम पर जब तक इतना त्याग नहीं किया जाता है तब तक धर्म चमकता नहीं है। एक सच्चे अहिंसक को इस हद तक त्याग करने की भावना अपने हृदय में अवश्य जागृत रखनी चाहिये।

अहिंसा ही शांति का राजमार्ग है। शास्त्रों में कहा है कि—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावतं वियाणिया।

अर्थात्—ज्ञान का सार अहिंसा ही है। यही श्रेष्ठ सिद्धान्त भी है। अहिंसा से ही शांति प्राप्त की जा सकती है। हिंसा निस्सार है। उसमें से कभी सार नहीं निकल सकता है। पहाड़ पर से एक पत्थर हटा लिया जाय तो उसके नीचे दूसरा पत्थर निकल आयगा। यही हाल हिंसा का भी समझ लेना चाहिये। एक के वाद दूसरी और दूसरी के वाद तीसरी हिंसा अनिवार्य वनती जाती है। परन्तु उसमें से सार कभी नहीं निकलता है। महाभारत के युद्ध में विजय पांडवों की हुई, परन्तु इस हिंसाजन्य विजय से पांडवों को सुख या सन्तोष का अनुभव नहीं हुआ था। इससे स्पष्ट है कि हिंसा से विजय भले ही मिल जाय, परन्तु उससे शांति नहीं मिल सकती है। शांति तो अहिंसा से ही प्राप्त की जा सकती है।

जिस अणुवम से हीरोशिमा का नाश हुआ, उस अणुवम का शोधक 'डा० चार्ल्स निकोलस' था। उसकी पत्नी का नाम 'मेरी' था। अमेरिका का प्रमुख शांतिवादी 'रोवर्ट सिडनी' उसका परम प्रिय मित्र था। मेरी का स्त्री-सुलभ कोमल हृदय होने से और सिडनी का सहवास होने से वह भी दृढ़ अहिंसक विचारों वाली शांतिवादी वन गई थी।

अणुवम की शोध पूरी हो जाने के वाद सिडनी ने निकोलस को उसका उपयोग न करने के लिये वहुत समझाया, परन्तु सिडनी की वात उसे न रुची। निकोलस अपनी यह शोध किसी को नहीं वतावे और सरकार को भी यह अणुवम

न दे, इसके लिये मेरी ने भी उससे बहुत कुछ कहा सुना, परन्तु उस पर इसका भी कुछ असर न हुआ। वह अपनी ४० वर्ष की मेहनत को पानी में बहा देना नहीं चाहता था। अन्त में जब निकोलस अपनी बात पर ही डटा रहा, तो मेरी ने भी उसका साथ छोड़ दिया। निकोलस, अब अपनी प्रयोगशाला में अकेला ही अपने वृद्ध नौकर के साथ रहने लग गया था।

आखिरकार, एक दिन हीरोशिमा पर अणुबम गिरा और सारा शहर खंडहर जैसा सुनसान हो गया। दो, तीन सीमैन्ट कोंक्रीट के मकानों को छोड़कर सब नष्ट प्राय: हो गये थे। जगह जगह राख के ढेर लग गये थे और उनमें से धुआँ निकल रहा था। शांति के नाम पर पश्चिमी प्रजा ने इस महाविनाश का सर्जन किया था। दूध पीते हुए बालक, दूध पीते ही रह गये थे और लाखों स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे भूगर्भ में समा गये थे। थोड़े-बहुत जो बच गये थे वे सब शहर से दूर भाग रहे थे। बीमार मनुष्य चिल्ला रहे थे, परन्तु कोई किसी की सुनता नहीं था। सब शहर से दूर भागते चले जा रहे थे।

ऐसी स्थिति में भी एक अनजान पुरुष शहर की तरफ दौड़ता चला आ रहा था। गरम-गरम राख के ढेर में पड़ कर उसके पाँव जल जाते थे। शरीर पर पहिने हुए उसके वस्त्र भी आधे जल चुके थे। उसके शरीर की चमड़ी काली पड़ने लग गई थी : राख के ढेरों में से जैसे वह कुछ खोजना चाहता हो, इस तरह वह उन ढेरों को बिखेरता जाता था। परन्तु उन ढेरों में से सिवाय गरम-गरम धुएँ के और कुछ निकलता नहीं था। ऊँचे टीलों पर चढ़कर वह चारों तरफ

नजर डालता था, परन्तु वहाँ न कोई झाड़ दिखाई देता था, न किसी झाड़ का पत्ता ही। पशु या पत्ती भी वहाँ नजर नहीं आते थे। यह सब देख कर वह बोल उठा—

He shall go to hel, he shall go to hell.

इस तरह वह यह पाँच बार बोला और फिर पागल की तरह दौड़ कर एक खंभे पर चढ़ गया। वहाँ भी उसने यह लिख दिया कि–He shall go to hell who made hell of this beloved town of Japan.

इतने में तो स्वयंसेवकों की एक एम्ब्युलेन्स कार उधर से आ निकली और उसे पागल समझ कर अस्पताल में ले पहुँची। अस्पताल के डाक्टरों ने उसकी जाँच की और फिर कहा "इसके ज्ञान तंतुओं पर बम की विद्युत् किरणों का असर हो गया है।' उसकी काली चमड़ी को देखकर डाक्टरों ने कहा—'यह तो कोई भारतीय प्रतीत होता है।'

उधर अमेरिका में, निकोलस का शान्तिवादी मित्र रोवर्ट सिडनी और दूसरे अमेरिकन शान्तिवादी हीरोशिमा के निराश्रितों की सेवा करने के लिये जापान जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि इतने में निकोलस की पत्नी मेरी वहाँ आई और रोती हुई बोली–'सिडनी! पाँच रोज से निकोलस का कुछ भी पता नहीं है। मैंने सब जगह उसकी तलाश कर ली पर कहीं भी उसका पता नहीं लग सका। विवश हो अन्त में तुम्हारे पास आई हूँ। क्या तुम उसका पता लगा सकोगे?' सिडनी ने उस समय जापान जाना स्थगित कर दिया और अखबारों में निकोलस के गुम हो जाने के समाचार प्रकाशित कराये। सिडनी और मेरी दोनों सर्व-प्रथम निकोलस की प्रयोगशाला में गये वहाँ उन्होंने चारों तरफ

खूब ध्यान पूर्वक देखा, पर कहीं निकोलस का चेहरा नजर नहीं आया। सिडनी की नजर सामने की एक दीवाल पर गई, जिस पर बड़े बड़े अक्षरों से यह लिखा हुआ था कि—

He shall go to hell.

सिडनी ने निकोलस के बूढ़े नौकर से पूछा—साहब गये तब तुम कहाँ थे ?

नौकर का नाम टोम था। उसने कहा—मैं यहीं था। कुछ देर ठहर कर फिर उसने आगे कहना शुरू किया—एक दिन रात को चार आदमी यहाँ आये और उन्होंने निकोलस से अणुबम की मांग की। परन्तु निकोलस ने उन्हें अणुबम देने से साफ इन्कार करते हुए कहा था कि जिस शोध के पीछे मुझे अपना मित्र और पत्नी को भी गमा कर बैठ जाना पड़ा है, वह शोध दूसरे को कैसे दी जा सकती है ? दूसरे दिन प्रमुख द्वारा भेजा गया एक आदमी यहाँ आया था, जिसने चार घंटे तक निकोलस से बात-चीत की थी। अन्त में जब वह यहाँ से निकला तो उसके हाथ में अणु बम की पेटी और आवश्यक कागजात भी उसके साथ थे। उसके जाते ही निकोलस बहुत गंभीर हो गये थे। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—'टोम ! कल दुनिया में शांति तो आवेगी, पर लाखों मानवों का संहार हो जायगा। यह शांति असंख्य निर्दोष प्राणियों का बलिदान ले लेगी और शहर के शहर पाताल में समा जायँगे।'

दूसरे रोज बिना कुछ खाये-पीये ही वे रेडियो के पास बैठ रहे थे। अन्त में तो जैसा उनका विचार था वही रेडियो बोल उठा—'हीरोशिमा नष्ट हो गया ! लाखों मनुष्य मौत के मुख में चले गये।" ये समाचार सुनते ही निकोलस ने अपनी

आँखें बन्द करली थीं और अपने दोनों हाथों से सिर पकड़ कर खड़े हो गये थे। कुछ देर बाद वे अपने बाल खींच कर इधर-उधर पागल की तरह आवाज करते हुए दौड़ने भी लग गये थे। सुबह होते-होते जब वे कुछ शांत हुए तो उन्होंने अपनी नोट बुक में कुछ लिखा भी था। इसके बाद उन्होंने कपड़े पहने और फिर बाहर चल दिये। जाते समय मैंने उनसे पूछा, तो वे पागल की तरह मुझे देखते रह गये। उनकी आँखों से आँसू गिर रहे थे। वे कुछ बोले बिना ही बाहर चल दिये थे। बस, उसी दिन से डाक्टर वापस यहाँ नहीं आये हैं।

टोम की बात पूरी हुई, तो सिडनी ने उसकी नोट-बुक उठा कर देखी। उसके अन्तिम पृष्ठ पर केवल इतना ही लिखा हुआ था कि 'जगत की शान्ति के लिये मेरी शोध का उपयोग होता हो तो मैं वह जरूर करूँगा।'

बहुत कोशिश करने पर भी अमेरिका में निकोलस का पता नहीं चल सका, तो मेरी भी सिडनी और उसके साथियों के साथ जापान चली गई। शांति संघ के सभ्यों ने जापान में उनका बड़ा सत्कार किया और उन सबको वे सहायता केन्द्रों की तरफ ले गये। केन्द्रों में हजारों की संख्या में स्त्री, पुरुष और बालक पड़े हुए थे। किसी का हाथ नहीं था, तो किसी का पाँव टूट गया था, किसी के सिर में चोट लगी हुई थी तो किसी की एक आँख ही चली गई थी। यह सब देख कर मेरी का हृदय काँप उठा था। वहाँ के प्रमुख डाक्टर और मानस शास्त्री प्रोफेसर विलियम ने उन्हें अस्पताल दिखाते हुए कहा—क्या आप में से कोई मुझे यह बता सकेगा कि ऐसे भयंकर अणुबम की शोध किसने की होगी?

सिडनी बीच में ही बोल उठा—शोधक को क्या आप नहीं जानते हैं। इसके शोधक हैं डॉ० चार्ल्स निकोलस।

विलियम ने कहा—डॉ० चार्ल्स तो कुछ दिनों से गुम हो गये हैं। फिर कहीं उनका पता भी लग सका है या नहीं?

यह बात चल ही रही थी कि बीच में ही एक स्वयं सेवक ने आवाज दी, साहब! वह भारतीय आपको बुला रहा है, उसको कुछ ज्यादा चोट आई है।'

यह सुन कर सब वहाँ पहुँचे। पागल का शरीर लोहलुहान हो गया था। सब को देखकर वह चुप हो गया और धीरे से निश्वास डालते हुए उसने कहा—Allas! he shall go to hell. सिडनी यह सुनकर चौंक उठा और विलियम से पूछा—डाक्टर, यह आदमी अभी जो बोला था, क्या इसे तुमने सुना?

विलियम ने कहा - हाँ यह हमेशा यही वाक्य बोला करता है और जगह जगह लिखता भी रहता है।

यह सुनते ही सिडनी ने पागल का हाथ पकड़ लिया और गद्गद् स्वर से बोल उठा—ओ मेरे निकोलस! तुम्हारी यह दशा?

वस्तु स्थिति समझने में किसी को देर न लगी। हीरोशिमा की धगधगाती आग में फिरने वाला वह भारतीय पागल और कोई नहीं, स्वयं अणुबम का शोधक डा० चार्ल्स निकोलस ही था।

निकोलस को सिडनी के केम्प में ले जाकर सुलाया गया ... अमेरिकन शांतिवादी उसके आस-पास बैठ गये। ... देर बाद निकोलस ने अपनी आँखें खोलीं और फिर ... कर लीं। मेरी की आँखें गीली हो गईं। उसने निकोलस

की तरफ देख कर कहा—चार्ल्स, मुझे न पहचाना! मैं मेरी।'

लड़खड़ाती हुई जीभ से निकोलस ने कहा—'तू सत्य साबित हुई मेरी।' I shall go to hell. यह कहते-कहते ही उसने अपने प्राण त्याग दिये।

इससे आप यह समझ सकते हैं कि हिंसा से कदाचित् विजय भले ही मिल जाय, परन्तु उससे शान्ति तो कदापि नहीं मिल सकती है। हिंसा का प्रत्याघात मानव के शरीर पर कैसा होता है, यह आप निकोलस के प्रसंग से भली भाँति समझ सकते हैं। उसने अणुबम बना कर तो दिया परन्तु उसका उपयोग होने पर निर्दोष मनुष्यों को कित[illegible] सहन करना पड़ेगा? इस विचार ने ही उसे पागल ब[illegible] दिया था। हिंसा का ऐसा करुणा जनक परिणाम आने [illegible] ही ज्ञानी पुरुषों ने इसे असार यानी त्याज्य कहा है। हि[illegible] की तरह चोरी और असदाचार भी कायिक दुष्कर्म [illegible] जिनका परिहार करना भी आवश्यक बताया गया [illegible] इनके विपरीत अहिंसा, अचौर्य, और सदाचार में का[illegible] सत्कर्म हैं जिनसे जीवन उन्नत बनाया जा सकता है।

आपको जो मन-वचन और काया के औजार मि[illegible] हैं, उनका आप दुरुपयोग न करें और शुभ योगों [illegible] उनसे अपने जीवन को उन्नत बनाते रहेंगे तो आप [illegible] दिन शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकेंगे।
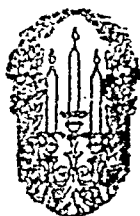
# शिक्षा का आदर्श

आज इस विद्यालय में आने से मेरा हृदय आनन्द का अनुभव कर रहा है और यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि बड़ी उम्र के बालक बालिकाओं को कहने का तो अनेक बार प्रसंग आता है, परन्तु छोटे-छोटे बालकों के समक्ष कहने का बहुत कम प्रसंग आता है। बालकों में ईश्वर का निवास रहा हुआ है ऐसा ईशु खिस्त ने कहा है। ये छोटे-छोटे बालक ईश्वर के प्रतिनिधि स्वरूप ही हैं, जिनसे मिलने का प्रसंग आवे तो हर्षोद्रेक होना अस्वाभाविक नहीं है। एक अंग्रेज तत्त्वज्ञानी ने कहा है—The smallest children are nearest to the God as smallest plants are nearest to the sun. विज्ञान की मान्यतानुसार जो ग्रहनक्षत्र जितना छोटा होता है, वह सूर्य के उतना ही निकट होता है। इसी तरह बालक भी जितना छोटा होता है उतना ही वह ईश्वर के सन्निकट होता है। ऐसे बालकों को क्या उपदेश दें? हाँ, लेना चाहें तो बहुत कुछ ले सकते हैं। एक योगी के पास से जितना उपदेश ले सकते हैं उससे भी अधिक एक बालक के जीवन से ग्रहण कर सकते हैं। बालक के जीवन में शुद्धता, सरलता और सत्यता के स्वाभाविक गुण विद्यमान होते हैं। बालक यदि सत्य के वातावरण में ही पले-पोपे, और कभी किसी को असत्य बोलते न देखे, तो उसका सम्पूर्ण जीवन सत्यमय बन सकता है। इस प्रकार आज बड़े कहलाने वालों को भी बालकों से बहुत कुछ सीखना है। आज मुझे बड़ों के

लिये कुछ उपदेश देना है तो मैं उनसे यही कहूँ कि 'तुम अब आगे बढ़ने के बजाय पीछे हटो और बाल्यावस्था में जैसा तुम सरल, शुद्ध और निर्लोभी जीवन व्यतीत करते थे वैसा जीवन जीने लगो तो तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

प्यारे बालको! तुम भावी हिन्द के नागरिक हो और उसके गढ़वैये भी। भावी हिन्द को कैसा बनाना, यह तुम्हारे हाथ में है। तुम अपने जीवन का ऐसा सुन्दर निर्माण करो कि जिससे हिन्द देश सारी दुनिया के लिये एक आदर्श रूप बन जाय।

मानव-जीवन तीन प्रकार का होता है—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम जीवन का निर्माण करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। उत्तम जीवन ही आकर्षक बनता है। उत्तम जीवन जीने वाले के रीति-रिवाज, बोलना, चलना और एक दूसरे के साथ व्यवहार करना ये सब बड़े आकर्षक होते हैं।

कल्पना कीजिये कि तुम्हारे सामने एक अतर की शीशी पड़ी है तो तुम्हारा ध्यान सहज ही उसकी तरफ आकर्षित हो जायगा और तुम उसके निकट जाना चाहोगे। परन्तु उसी शीशी में यदि अतर के बजाय पानी भरा हुआ हो तो क्या किसी का ध्यान उसकी तरफ केन्द्रित हो सकेगा? समझ लीजिये उस शीशी में अतर भी न हो और सादा पानी भी न हो, परन्तु वह गटर के गन्दे पानी से भरी हुई हो, तो क्या उसकी तरफ कोई अपना मुँह उठा कर भी देखना पसन्द करेगा? सब कोई उसकी तरफ से अपना मुँह फेर लेना ही चाहेंगे। इन तीन शीशियों की तरह ही हमारा जीवन भी तीन प्रकार का है। उत्तम जीवन अतर की शीशी के समान है। मध्यम जीवन पानी की शीशी की तरह और

अधम जीवन गटर के पानी की शीशी की तरह है। अब तुम विचार करो कि तुम्हें अपनी जीवन-शीशी में क्या भरना है? अतर, पानी या गटर का पानी? शित्तण का ध्येय जीवन की शीशी में अतर भरने का है।

उत्तम जीवन दैविक जीवन है, मध्यम जीवन मानवी जीवन है, और अधम जीवन पाशवी जीवन है। मनुष्य के जीवन को उन्नत बनाने के लिये ही शिक्षा दी जाती है। हमारे आद्य ऋषियों ने कहा है कि—'साविद्या या विमुक्तये' जो राग-द्वेप से और काम-क्रोध मोह आदि षडरिपुओं से मुक्ति दिलावे वही विद्या है। अंग्रेजी में भी कहा है कि liberalising education अर्थात् जो मनुष्य को स्वतन्त्र-मुक्त बनावे वही विद्या है। शित्तण का ध्येय चारित्र का निर्माण करना है। जैसा कि शेक्सपीयर ने कहा है—character development is secret aim of education.

अत्तर ज्ञान या भाषा का ज्ञान तो शित्तण का गौण ध्येय है, उसका मुख्य ध्येय तो जीवन का निर्माण करना ही है। सभी भाषाएँ आती हों या नहीं, यह कोई महत्व की बात नहीं है, परन्तु जीवन को सदाचारी बनाना ही महत्व की बात है।

रस्किन नामक एक पाश्चात्य तत्ववेत्ता, जिसे महात्माजी अपना गुरु मानते थे और जिसकी एक छोटी सी पुस्तक unto this last से महात्माजी आकर्पित हुए थे, वह शित्तण का अर्थ करते हुए कहता है—

To educate is to control education, does not mean teaching people to know what they do not know, it means teaching them to behave as they do not behave.

रस्किन ने एज्युकेट धातु का अर्थ ही मनोवृत्तियों और इन्द्रियों पर संयम रखना किया है। शिक्षण का अर्थ मनुष्य जिस वस्तु को जानता न हो उसका ज्ञान कर लेना मात्र ही नहीं है, पर उसका अर्थ तो यह है कि जो अपने जीवन में सदाचार का आचरण न करता हो उसके जीवन में सदाचार का संचार कर देना है। परन्तु आजकल के शिक्षण की तरफ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षण का यह मूल हेतु ही भुला दिया गया है और भाषा ज्ञान की डिग्रियाँ प्राप्त करना ही उसका एक मात्र ध्येय मान लिया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने आदर्श शिक्षा की व्याख्या करते हुए कहा है कि Man making education अर्थात् जो शिक्षा मानव को सच्चा मनुष्य बना दे वही आदर्श शिक्षा है। परन्तु आज की शिक्षा तो वकील, बैरिस्टर, सोलीसिटर, डाक्टर और इञ्जीनियर पैदा कर रही है, वह सच्चा मनुष्य भी बनाती है या नहीं? यह एक विचारणीय प्रश्न है। एक बार राजाजी ने बम्बई यूनीवर्सिटी के पदवी-प्रदान समारोह के अवसर पर कहा था कि 'यूनीवर्सिटियों के कारखानों में से माल तो बहुत निकलता है, परन्तु उसकी क्वालिटी सुधारने की अनिवार्य आवश्यकता है।' यह क्वालिटी बुद्धि, हृदय और शरीर के पूर्ण विकास से ही सुधर सकती है और मनुष्य भी इन तीनों के सुमेल से सच्चा मनुष्य बन सकता है।

पुराने समय में आज की तरह शहरों में स्कूल, हाईस्कूल, कॉलेज और यूनीवर्सिटियाँ नहीं थीं। उस समय बालकों को पढ़ने के लिये ऋषि-मुनियों के आश्रमों में, जो कि जंगल में होते थे, रख दिये जाते थे। आज की भाषा में हम उन आश्रमों को Forest University कह सकते हैं। इस

शिक्षण प्रणाली में भाषा-ज्ञान की मुख्यता नहीं होती थी, परन्तु चारित्र निर्माण की प्रमुखता रहती थी। विद्यार्थीगण गुरुजनों के सब काम करते थे और उनसे अनुभव प्राप्त करते थे। इससे उनका जीवन भी उच्च बनता था। महात्माजी भी इसी तरह उद्योग द्वारा शिक्षण देने के पक्ष में थे। परन्तु आज का शिक्षण इस प्राचीन प्रणाली से बिल्कुल भिन्न हो गया है। आज के शिक्षण के बारे में एक विद्वान् ने जो यह कहा है, ठीक ही कहा है—

Modern education too often cover the fingers with rings and at the same time cuts the sinews at the writs.

अर्थात् अर्वाचीन शिक्षण मानव की अंगुलियों को अंगूठियों से सुशोभित कर देता है, परन्तु उसी समय वह उसकी स्नायु को भी काट डालता है।

अंगुली में अंगूठी पहिन कर स्नायु कटा डालने में तो लाभ के बजाय हानि ही है। इसी तरह आज का शिक्षण भी मानव की बुद्धि को तो तेजस्वी बनाता है, पर साथ ही साथ वह मानव के हृदय में रहे हुए विविध सद्गुणों और संयम तथा सदाचार के संस्कारों को भी उखेड़ देता है। तुम्हारा शिक्षण ऐसा नहीं होना चाहिये। क्योंकि हृदय के विकास के बिना केवल बुद्धि का ही विकास लाभदायी नहीं होता है। बुद्धि के विकास के साथ-साथ हृदय का विकास भी उतना ही होना चाहिये। बुद्धि का विकास हृदय के विकास से कम भी रहा तो चल सकेगा, परन्तु हृदय का विकास यदि बुद्धि के विकास से कम रहा तो यह नहीं चल सकेगा। इसलिये तुम्हें अपने विद्याध्ययन में हृदय के विकास का खास तौर से ध्यान रखना चाहिये।

जो मनुष्य सुन्दर होता है उसके अवयवों में सुमेल होता है। परन्तु यदि किसी का सिर मोटा हो और हाथ पैर छोटे-छोटे दुबले-पतले हों तो ऐसा मनुष्य बदसूरत और भयंकर भी लगता है। इसी तरह जो व्यक्ति बुद्धि का तो पूर्ण विकास कर लेता है, परन्तु हृदय का विकास नहीं करता है तो वह भी बेहूदा बन जाता है। बुद्धि और हृदय का सुमेल होने पर ही मानव आगे बढ़ सकता है। अतः बुद्धि के साथ-साथ हृदय का विकास भी अवश्य करना चाहिये। परन्तु आज की हालत तो यह है कि मनुष्य जितना प्रयत्न विद्वान् बनने के लिये करता है उतना वह सदाचारी बनने के लिये नहीं करता है।

पुराने जमाने के लोग पढ़ना-लिखना और गणित सीखना शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। वे कहते थे कि—

The aim of education is the three R's reading, writting and arithmatic. परन्तु अब शिक्षा का आदर्श बदल गया है और कहा जाता है कि—

The aim of education are three harmoney of three H's of the heart of head and of the hand. अर्थात् हृदय, मस्तिष्क और हाथ का समन्वय ही शिक्षा का आदर्श है। उनमें से किसी एक की भी कमी हो तो शिक्षण अधूरा कहा जाता है। जैसा कि एक विद्वान् ने यथार्थ ही कहा है—

If wrong our hearts, our heads are right in vain. अर्थात् यदि हमारे हृदय में सत्य, नीति, न्याय और प्रामाणिकता प्रतिष्ठित न हो तो हमारा सारा ज्ञान ही बेकार है अतः इन तीनों का सुमेल होना ही शिक्षा का आदर्श है। एक दूसरे विद्वान् ने तो क्या ही सुन्दर कहा है—

Knowlege without religion is death. अर्थात् धर्म रहित ज्ञान तो मृत्यु ही है। इससे बुद्धि के विकास के साथ-साथ हृदय का विकास करना भी हमारे लिये अनिवार्य हो जाता है। आज तुम जिस शिक्षा द्वारा अपनी बुद्धि का विकास कर रहे हो, उसी को यदि तुम अपने आचरण में लावोगे तो हृदय भी विकसित हो सकेगा। तुम अपने माता-पिता और अध्यापकों के प्रति नम्र बनो यही तुम्हारे हृदय का विकास है। आज के अंग्रेजी शिक्षण की शुरूआत तो cat and dog से होती है—यानी कुत्ता और बिल्ली से होती है। परन्तु हमारे प्राचीन आर्य शिक्षण की शुरूआत कहाँ से होती थी क्या तुम यह जानते हो? उसकी शुरूआत 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' और 'आचार्य देवो भव' के वाक्यों से होती थी। जिसका अर्थ है, माता-पिता और गुरु को तुम देव तुल्य समझो और इनके प्रति नम्र बनो। यह शिक्षा हृदय के विकास की है, जो कि पुराने समय में बालक को सर्व प्रथम दी जाती थी।

बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ सेवा और न्याय के गुणों को अपनाते हुए मानसिक शिक्षा भी प्राप्त की जा सकती है। तुम किसी काम से बाहर जाओ तो अपने पड़ौसी से भी पूछते जाओ कि तुम्हें कुछ काम तो नहीं है? अगर काम है, तो उसे भी अपने काम के साथ पूरा कर आओ। पड़ौसी बीमार हो तो उसको दवा लाकर दे दो। खेलते-कूदते दिन में एक दो बार उसके घर चक्कर भी मार आओ और दवा या पानी पिलाने जैसा छोटा-बड़ा काम कर दो तो इस प्रकार तुम हृदय की तालीम प्राप्त कर सकोगे।

कलकत्ता के हाईस्कूल में दो विद्यार्थी एक ही साथ पढ़ते ...

थे। दोनों पढ़ने में बड़े होशियार थे। हर बार दोनों में से एक प्रथम नम्बर पास होता था और दूसरा, दूसरे नम्बर। एक बार परीक्षा होने में तीन महीने बाकी थे कि प्रथम-नम्बर वाले लड़के की माँ बीमार पड़ गई और वह उसकी सेवा सुश्रूषा में लग गया। इस से उसका अभ्यास क्रम बराबर न हो सका। इस बार वह प्रथम नम्बर आवे इसका उसे विश्वास न रहा और न उसके अध्यापक को ही भरोसा था। दूसरे नम्बर वाले का अभ्यास अच्छा था और इस बार वह प्रथम नम्बर आ जायगा ऐसी सब को उम्मीद हो गई थी। निदान परीक्षा हुई और परिणाम जाहिर हुआ तो प्रथम नम्बर वाला ही प्रथम था और दूसरा नम्बर वाला ही दूसरा। अध्यापक को आश्चर्य हुआ और उसने दूसरे नम्बर वाले के प्रश्न-पत्र दुबारा जाँचे, तो पता चला कि जिन प्रश्नों का उसे अच्छी तरह उत्तर याद था, उनको भी उसने अच्छी तरह नहीं लिखा था। फलत: उसे मार्क्स कम मिले थे। अध्यापक ने इसका उससे कारण पूछा तो उसने कहा--मुझे प्रश्नों के उत्तर तो अच्छी तरह आते थे, परन्तु जान बूझ कर ही मैंने उन्हें लिखा नहीं था। क्योंकि मेरी अन्दरूनी इच्छा मेरे मित्र को ही प्रथम नम्बर पर कायम रखने की थी। यह जान कर अध्यापक को भी उसके प्रति बड़ा मान उत्पन्न हुआ। तो यहाँ मुझे भी यही कहना है कि इस प्रकार का तुम भी त्याग करना सीखोगे तो हृदय को विकसित कर सकोगे।

शिक्षण-शास्त्री शिक्षा के पाँच मूलभूत सिद्धान्त बताते हैं। वे कहते हैं सत्य, नम्रता, श्रद्धा, हिम्मत और श्रमीदृष्टि ये शिक्षण के मूल तत्व हैं। दुनिया में सत्य का कोई विरोधी तत्व है, तो वह सत्ता है। सत्य का विरोधी असत्य नहीं,

पर सत्ता ही है। यही सत्य का नाश करने वाली है। असत्य
तो विचारा पंगु है। वह अपने रूप में जीवित नहीं रह
सकता है। असत्य को जीवित रहने के लिये सत्य का दावा
करना पड़ता है। परन्तु सत्ता सत्य का अपमान करती हैं।
विश्व में हमेशा सत्ता का ही साम्राज्य फैला हुआ होता है।
कहीं धर्मगुरुओं की सत्ता, राजाओं की सत्ता, नौकरों पर
मालिकों की सत्ता, कुटुम्ब के आदमियों पर उनके वड़े आदमी
की सत्ता, स्त्रियों पर पुरुषों की सत्ता, एक राष्ट्र पर दूसरे
राष्ट्र की सत्ता यों सर्वत्र सत्ता ही फैली हुई है। इस सत्ता की
जगह सत्य की स्थापना करना ही शिक्षण का प्रथम मुख्य
तत्व है। दूसरा और तीसरा तत्व नम्रता और श्रद्धा है।
चौथा तत्व हिम्मत है, जिसका अर्थ है चाहे जिस समय
भी अपना सर्वस्व समर्पित करने की तैयारी होनी चाहिये।

अमीदृष्टि, यह शिक्षण का पाँचवाँ तत्व है। अपने स्वार्थ
का तनिक भी विचार किये विना सब का हित चाहना अमी
दृष्टि है। मुझे इस छोटी सी जिन्दगी में क्या अपने साथ ले
जाना है। मैं किसका पक्षपात करूँ? मेरे लिये तो सब
समान हैं। दूसरों को सुखी देखूँ तो मैं खुश हो उठूँ, उनका
सुख ही तो मेरा सुख है। मेरा अपना कुछ नहीं है। इस
प्रकार की भावना रखना अमीदृष्टि है। लेकिन दुख की
बात है कि आज यह अमीदृष्टि सामाजिक जीवन में कम
होती जा रही है। कई वार तो बूढ़े आदमियों के मुँह से
भी यह कहते हुए सुना जाता है कि 'मानव की नजरों में से
आज अमी सुखा गई है।' शिक्षण का उद्देश्य इसी अमीवृत्ति
की क्षति पूर्ति करने का होता है। मनुष्य की दृष्टि जब अमी-
रस पूर्ण हो जाती है तब वह सबको प्रेम की नजरों से ही
निहारने का आदी बन जाता है।

जो मनुष्य सब पर दया का बरताव रखता हो, दूसरों को प्रेम-नीर से नहलाता हो, उसको अपने पास से कुछ खोने का नहीं रहता है। एक बार की बात है, महात्माजी के पास एक विद्यार्थी उनके हस्ताक्षर लेने आया। महात्माजी ने उसे लिख कर दे दिया कि—

It does not cost to be kind. अर्थात् दयालु बनने में कुछ गुमाना नहीं पड़ता है। इस एक ही वाक्य से उस विद्यार्थी का सारा जीवन सुधर गया था। इस प्रकार हमको भी दयालु बन कर अमी दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये। बालकों की कथाओं में परियों की बातें आती हैं। उनमें लिखा होता है कि परी जब बोलती है तब उसके मुँह से फूल झड़ते हैं। इसका क्या मतलब है? क्या उसके पेट में फूल के झाड़ लगे हुए होते हैं कि वह बोले और फूल झड़ जाय? नहीं ऐसी बात नहीं है। उसका मतलब यह है कि उसके बोल फूल जैसे कोमल और प्रेम की मधुर सुगन्ध से भरे हुए होते हैं इस प्रकार मनुष्य की दृष्टि में और वाणी में अमृत हो, सत्य, श्रद्धा, नम्रता और हिम्मत के गुण हों तो उसका हृदय विकास की ओर गति किये बिना नहीं रह सकेगा। और यही विकास की सच्ची तालीम कही जायगी।

Harmony of the head, of the heart and of the hand मस्तिष्क में ज्ञान का, हृदय में गुणों का और शरीर में शक्ति का विकास होना ही आदर्श शिक्षा है, और ऐसी शिक्षा ही जीवन को उत्तम बना सकती है।

हृदय और बुद्धि के साथ साथ शरीर-विकास की तरफ भी आवश्यक ध्यान रखना चाहिए। शरीर में शान्ति नहीं हो तो हृदय और बुद्धि का विकास भी अमल में नहीं रखा

जा सकता है। शरीर-विकास के लिए ब्रह्मचर्य, खान-पान पर संयम और व्यायाम की आवश्यकता रहती है। पश्चिम के देशों में तो शरीर विकास के लिए विद्यार्थियों को इनाम मिलता है। जो छात्र ज्यादा तन्दुरुस्त होता है, उसको सबसे अच्छा इनाम मिलता है। सब विषयों के नम्बरों के साथ तन्दुरुस्ती और स्वच्छता के भी नम्बर दिये जाते हैं जिससे कि बालकों का ध्यान आरोग्य की तरफ भी रहे।

मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में गुण और शरीर में शक्ति इन तीनों गुणों का समान विकास करना ही शिक्षा का आदर्श है। और यही सच्ची शिक्षा है। ऐसी शिक्षा प्राप्त कर आप सब छात्र-भाई और बहिनें अपना जीवन उज्ज्वल बनावें और अपने देश को उन्नत करें यही मैं तुम्हारे से आशा रखती हूँ।

# हमारे विशेष उपयोगी प्रकाशन

**सामायिक सूत्र**—इसमें मूल शुद्ध पाठ सुन्दर रूप में मूलार्थ और भावार्थ, संस्कृत प्रेमियों के लिये छायानुवाद और सामायिक के रहस्य को समझाने के लिए उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। मूल्य २॥)

**सत्य हरिश्चन्द्र**—कुशल-काव्य कलाकार कवि श्री जी महाराज ने अपनी कुशल लेखनी द्वारा राजा हरिश्चन्द्र, रानी तारा और राजकुमार रोहित का बहुत ही भावपूर्ण चित्र खींचा है। पुस्तक की भाषा सरल और सुबोध तथा भावाभि-व्यक्ति प्रभावशालिनी है। पुस्तक की छपाई-सफाई सुन्दर है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १॥)

**श्रमण सूत्र**—इस ग्रन्थ में शुद्ध मूल पाठ, विशुद्ध एवं रमणीय मूलार्थ एवं भावार्थ और प्रत्येक पाठ पर विस्तृत भाष्य किया गया है। प्रारम्भ में भूमिका के रूप में एक विस्तृत आलोच-नात्मक निबन्ध है, जिसमें प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में विस्तार से ऊहापोह किया गया है। उपाध्याय श्री जी महाराज ने अपने विशाल अध्ययन और गम्भीर चिन्तन से इस ग्रन्थ को गौरवशाली बनाया है। इतने पर भी ग्रन्थ का लागत मात्र मूल्य ५॥) है। पृष्ठ संख्या ६५०।

**जैनत्व की झाँकी**—प्रस्तुत पुस्तक में जैन इतिहास, जैन धर्म और जैन संस्कृति पर लिखित निबन्धों का सर्वाङ्ग सुन्दर संकलन है। उपाध्याय श्री जी महाराज ने गम्भीर एवं विशद विषयों पर बड़ी सरलता से प्रकाश डाला है। पुस्तक सर्व प्रकार से सुन्दर है। मूल्य १।)

**मंगल वाणी**—इस पुस्तक में मुनि श्री अमोलकचन्द्र जी महाराज ने प्राकृत, संस्कृत और हिन्दीके भावपूर्ण एवं विशुद्ध

स्तोत्रों और स्तवनों का सुन्दर संकलन किया है। प्रातः सायं पाठ करने वाले बन्धुओं के लिए पुस्तक संग्रहणीय है। मूल्य २) पृष्ठ संख्या ३२५।

संगीतिका—प्रस्तुत पुस्तक में उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज द्वारा रचित गीतों का बहुत ही सुन्दर सम्पादन एवं संकलन हुआ है। सब से बड़ी विशेषता तो यह है कि संगीत शास्त्र के उद्भट विद्वान् पं० विश्वम्भरनाथ जी ने सभी गीतों की आधुनिक प्रचलित रागों में स्वर लिपि तैयार करके संगीत प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। पुस्तक आर्ट पेपर पर बहुत ही सुन्दर छपी है। संगीत सीखने वालों के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। राज संस्करण का मूल्य ६) साधारण संस्करण का ३॥)

उज्ज्वल वाणी—इस पुस्तक में राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवचनों का संग्रह बहुत ही उपयोगी ढंग से किया है। पृष्ठ संख्या २७५ और मूल्य ३)

काँटों के राही—हर्ष का विषय है कि पं० इन्द्रचन्द्र जी ने कुछ चमचमाते मोतियों को जन भोग्य बना दिया है। पुस्तक में इतिहास की सुप्रसिद्ध कहानियों का सर्वाङ्ग सुन्दर संग्रह है। मूल्य १॥)

आदर्श कन्या—प्रस्तुत पुस्तक में उपाध्याय श्री जी के स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह है। नारी-जीवन को ऊँचा उठाने के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ॥)

आवश्यक दिग्दर्शन—प्रस्तुत पुस्तक में 'मानव जीवन का महत्व', 'सच्चे सुख की शोध' और षट् आवश्यक पर विस्तृत, सप्रमाण और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार-

चिन्तन किया गया है। यह ग्रन्थ साधु-श्रावक सभी के लिए उपयोगी है। मूल्य १॥)

अमर माधुरी—इस पुस्तक में उपाध्याय कविरत्न मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज की सरस, सुन्दर एवं भावपूर्ण कविताओं का संकलन किया गया है। धार्मिक एवं सामाजिक कविता प्रेमियों के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से संग्रहणीय है। मूल्य १)

दिव्य-ज्योति—प्रस्तुत पुस्तक में श्री काशीरामजी चावला ने जैन-समाज के प्रसिद्ध मुनिराज स्व० पं० श्री ऋषिराज जी महाराज अर्थात् श्री लेखराज जी महाराज का बहुत सुन्दर एवं अनेक शिक्षाओं से परिपूर्ण जीवन चरित्र तथा इनके सुन्दर उपदेशों का संग्रह किया है। पुस्तक की छपाई-सफाई बहुत ही सुन्दर है। यह अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। जनता को इससे लाभ उठाना चाहिए। अर्ध मूल्य केवल १॥)

तीन बात—पं० रत्न उपा० श्री अमरचन्द्र जी महाराज जीवनोपयोगी लगभग १२० शीर्षकों में तीन-तीन वाक्यों द्वारा जीवन को शुद्ध, नैतिक और पवित्र बनाने का उपदेश सूत्र-भाषा में किया है। पुस्तक जेब में रखने योग्य प्रेरणादायी है। ऊपर तिरंगा वाला गेट-अप बहुत ही सुन्दर है। मूल्य ।)

सोलह सती—श्रीयुत् रत्नकुमारजी 'रत्नेश' ने इस महनीय नारी जगत में से सोलह सन्नारियों (सतियों) के चरित्र अपनी पुस्तक में अङ्कित किये हैं। पुस्तक नारी-जीवन के सम्बन्ध में बड़े ही उच्च आदर्श उपस्थित करती है। नारी-जीवन के लिए ही नहीं, मानव-जीवन की नैतिकता को ऊँचा उठाने के लिए भी, जनता के समक्ष उपयोगी सामग्री उपस्थित करती है। अभी दूसरी बार छपकर प्रेस से आई है। मूल्य २)